शोध-पत्रिका

चीन साहित्य शोध संस्थान उदयपुर विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका

भाग १, अङ्क १



चैत्र सं० २००४
मार्च स० १९४७

शोध-पत्रिका

प्राप्त पत्रों में —

१ – यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि शोध-संस्थान इतने विविध विषयों से पूर्ण ऐसी उत्कृष्ट पत्रिका निकालने जा रहा है। मुझे विश्वास है कि यह पत्रिका निःसंदेह अपने ढंग की एक ही चीज होगी और हिन्दी भाषा तथा साहित्य की अमूल्य सेवा करेगी।

— गौरीशंकर हीराचंद ओझा, रोहेड़ा।

२ – मुझे पूरी आशा है कि ऐसे गण्य मान्य विद्वन्मंडली के हाथों में हिन्दी विद्यापीठ और शोध-पत्रिका,, राजस्थान, के इतिहास एवं संस्कृति को आलोकित कर सकेंगे।

— परमात्माशरण, बनारस।

३ – यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आप एक शोध-पत्रिका का प्रकाशन कर रहे हैं।

— वासुदेवशरण अग्रवाल, नई दिल्ली।

४ – निश्चित रूप से यह त्रैमासिक सफलता पूर्वक हिन्दी साहित्य की सेवा कर सकेगा।

— उदयनारायण तिवारी, प्रयाग।

५ – 'शोध-पत्रिका' का विज्ञापन पढ़कर प्रसन्नता हुई। आपको बड़े ही योग्य सम्पादक मिले हैं, सफलता अवश्य होगी।

— रामनरेश त्रिपाठी, सुलतानपुर।

६ – मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आप शोध क्षेत्र में इस नई प्रवृत्ति को प्रारंभ कर रहे हैं।

— परशुराम कृष्ण गोडे, पूना।

७ – मैं आपकी पत्रिका की बड़ी सफलता चाहता हूं।

— बी. भट्टाचार्य, बड़ौदा।

८ – आपने जो काम आरंभ किया है वह आशा है, टिका रहेगा और साहित्य की खास कर के राजस्थान के साहित्य की एक कमी को पूरा करने में मददगार होगा।

— कृष्णलाल वर्मा, बम्बई।

९ – यह समाचार पढ़कर मुझे बड़ा हर्ष होता है कि उदयपुर राजपूताना से मान्य साहित्य-सेवियों के सहयोग तथा सम्पादकत्व में एक सर्वांगीण 'शोध पत्रिका' बिना ही विलम्ब के निकलने वाली है।

— उ नि. गमन [illegible]

पत्रिका-परिचय और नियम

१—यह प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान, उदयपुर विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका है।

२—इसमें १-प्राचीन साहित्य-मुख्यतः प्राचीन राजस्थानी साहित्य २-लोक-साहित्य ३-इतिहास, ४-पुरातत्व ५-वनस्पति शास्त्र और ६-कला, समाज शास्त्र आदि विषय के शोध-पूर्ण निबन्ध रहेंगे। साथ ही शोध-समाचार, साहित्य-समीक्षा आदि का भी समावेश होगा।

३—राजस्थान इसका प्रमुख क्षेत्र रहेगा।

४—निबन्ध में प्रगट किये गये विचारों के लिये उनके लेखक ही उत्तरदायी होंगे।

५—लेखकों को प्रकाशित निबन्धों के २५ रीप्रिन्ट सम्बन्धित प्रति के अतिरिक्त भेंट किये जाएँगे।

६—समालोचनार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आनी आवश्यक होंगी। एक प्रति आने पर उसके लिए धन्यवाद देने के साथ प्राप्ति-स्वीकार की जायगी।

७—पत्रिका का वार्षिक मूल्य ६) रु० तथा एक प्रति का १।।) रु० है।

८—किसी भी अंक से ग्राहक बनाये जा सकेंगे, किन्तु वर्ष से कम के लिये नहीं।

९—पत्रिका प्रतिवर्ष-चैत्र, आषाढ़, आश्विन और पौष (मार्च, जून, सितम्बर तथा दिसम्बर) में प्रकाशित हो जाया करेगी।

मेवाड़ की कहावतें, भाग १

सम्पादक—पं० लक्ष्मीलाल जोशी एम. ए., एल. एल.बी.।

भूमिका-लेखक—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम ए.पी.एच.डी.

राजस्थानी कहावतमाला की यह पहली पुस्तक है। इसमें १०२५ राजस्थानी कहावतें संग्रहीत और सम्पादित की गई हैं। २०×३०/१६ साइज के १०+१६+२०४+८ पृष्ठ। मूल्य दो रुपया।

मेवाड़-परिचय

लेखक—विपिन बिहारी वाजपेयी एम. ए., 'साहित्यरत्न'

मेवाड़ के भूगोल, इतिहास, शासन-पद्धति, संस्कृति, भाषा, साहित्य तथा मेवाड़ की प्रगति के लिये किये गये विविध प्रयत्न और मेवाड़ के रमणीय एवं दर्शनीय स्थानों की जानकारी के लिये यह पुस्तक परम उपयोगी है। २०×३०/१६ साइज के ६+६८ पृष्ठ। मूल्य आठ आना।

नोट—पुस्तकों के परिवर्तन और पुस्तकों की अधिक प्रतियाँ मंगाने के लिये विशेष सुविधायें।

— प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान उदयपुर विद्यापीठ प्रकाशन —

शोध-पत्रिका

भाग – १, अंक – १

पौष, संवत् २००४
मार्च, सन् १९४८

प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान
उदयपुर विद्यापीठ

एक प्रति—डेढ़ रुपया] [वार्षिक मूल्य—छः रुपये

विषय-सूची

आगामी अंक के कुछ निबन्ध –

(१) 'मेहँदी' का इतिहास [श्रीयुत परशुरामकृष्ण गोडे, एम. ए.]

(२) रतलाम के वर्तमान द्वितीय राज्य के संस्थापक—छत्रसाल राठौड़ [श्रीयुत महाराजकुमार डॉ॰ रघुवीरसिंह एम. ए., डी. लिट्. एल. एल. बी.]

(३) उज्जैन का एक शिलालेख [श्रीयुत पं॰ सूर्यनारायण व्यास, एम. ए.]

इनके अतिरिक्त राजस्थानी डिंगल साहित्य, राजस्थानी लोक-साहित्य, भीली कहावतें और राजस्थानी भाषा, आदि विषयों पर।

शोध-पत्रिका

[प्राचीन साहित्य शोध संस्थान, उदयपुर विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका]

भाग १	उदयपुर, चैत्र, २००४ वि०	अङ्क १

[१] धरमत (फतेहाबाद) युद्ध सम्बन्धी दो हिन्दी आधार ग्रंथ और उनका ऐतिहासिक महत्व

[श्रीयुत महाराज कुमार डा० रघुबीरसिंह एम ए, डी लिट, एल एल बी]

सर यदुनाथ सरकार ने अपने सुप्रसिद्ध एवं प्रामाणिक ग्रंथ "हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब" में धरमत (फतेहाबाद) के युद्ध का विस्तृत एवं अतीव भावपूर्ण सुस्पष्ट विवरण लिखा है (औरंग०, १-२ पृ० ३४८-३७१)। सर यदुनाथ ने फ़ारसी में लिखे गए सारे प्राप्य ऐतिहासिक आधार ग्रंथों की पूरी २ छान-बीन कर उन्हीं के आधार पर यह विवरण लिखा था। इन फ़ारसी आधार ग्रंथों में विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं —

मिर्ज़ा मुहम्मद काज़िम कृत "आलमगीर नामा" (आ०ना०)
आकिल खां रज़ी कृत "ज़फरनामा-इ-आलमगीरी" (ज़फर०),
मीर मुहम्मद मासूम कृत "तारीख-इ-शाहशुजाई" (मासूम०)

संकेत परिचय —

औरंग०—सर यदुनाथ सरकार कृत "हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब" खण्ड १, २, संशोधित संस्करण।

ख्यात०—जोधपुर राज्य की ख्यात, महामहोपाध्याय रा० ब० गौरीशंकर हीराचन्दजी ओझा के संग्रह से प्राप्त, हस्तलिखित, खण्ड १।

ईश्वरदास नागर कृत 'फतूहात-इ-आलमगीरी'' (ईश्वर०), और
मुहम्मद सालिह कम्बू कृत " आलम-इ-सालिह " (कम्बू)।

किन्तु इन सारे आधार ग्रंथों में प्रधानतया इस युद्ध के विजेता और बाद में होने वाले मुगल सम्राट औरंगजेब की ही तरफ से युद्ध का हाल लिखा है। विजेता का दृष्टि-कोण एवं उस ओर से प्राप्त सामग्री ही इन लेखों के आधार बन गए।

'आलमगीर नामा', 'आलम-इ-सालिह' एवं 'जफरनामा-इ-आलमगीरी' में दिए गए विवरण मुगल-साम्राज्य के राजकीय कागज पत्रों के आधार पर लिखे गए थे। मासूम ने सर्वत्र फैली हुई इस गृह-युद्ध सम्बन्धी कथाओं एवं युद्ध के विभिन्न विवरणों का अपने ग्रंथ में समावेश किया। परन्तु मासूम ने अपना पूरा समय प्रायः बंगाल में ही बिताया, एवं धरमत के युद्ध सम्बन्धी उस समय प्रचलित विभिन्न विवरणों का बंगाल तक पहुंचना संभव नहीं था। जसवन्तसिंह ने इस युद्ध में जो वीरता दिखाई और उसने क्या किया इसका ईश्वरदास नागर ने विशेषरूपेण उल्लेख किया है, किन्तु उसने यह विवरण उस युद्ध के कोई चालीस पचास वर्ष बाद लिखा था, एवं उसे जसवन्तसिंह के राजपूत सेनापतियों के बारे में विशेष बातें नहीं ज्ञात हो सकीं; उसने केवल मुकन्दसिंह हाड़ा की वीरता एवं उसके मारे जाने का ही उल्लेख किया।

धरमत के युद्ध से पहिले की रात जसवन्तसिंह के शिविर में क्या हुआ? युद्ध के समय जसवन्तसिंह की सेना में कौन कौन सी घटनाएं घटीं? जब जसवन्तसिंह युद्ध-क्षेत्र छोडने के लिए विवश किया गया तब जसवन्तसिंह की सेना का नेतृत्व किसने संभाला? आदि प्रश्नों का उत्तर हमें उपर्युक्त फारसी ग्रंथों में कहीं नहीं मिलता है। इस युद्ध के बाद जसवन्तसिंह ने शाही सेना की हार का समाचार दूतों द्वारा आगरा भिजवाया था, परन्तु इस समय जसवन्तसिंह ने युद्ध का विशद् विवरण लिखा हो यह सम्भव नहीं जान पड़ता है। जसवन्तसिंह की तरफ से लड़ने वाले एक-मात्र महत्वपूर्ण मुसलमान सेनापति क़ासिमखाँ ने युद्ध में विशेष भाग नहीं लिया था, अतएव जसवन्तसिंह की सेना की कार्यवाही तथा वहां होने वाली घटनाओं में उसे कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती थी। यही कारण है कि इन प्रश्नों पर प्रकाश डाल सकने वाली कोई ऐतिहासिक सामग्री फारसी भाषा में प्राप्त नहीं हो सकी है। इसलिए इन प्रश्नों पर प्रकाश डालने के लिए अन्य भाषाओं में प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री की खोज तथा उनकी पूरी २ जाँच पड़ताल करना आवश्यक हो जाता है।

यह सत्य है कि राठौड़ों के अतिरिक्त गहलोत, हाड़ा, गौड़ आदि विभिन्न कुलों के भी कई एक वीर योद्धाओं ने इस युद्ध में भाग लिया और प्रायः सारे

राजवाड़ो तथा सब महत्वपूर्ण राजघरानों के वीर इस युद्ध में काम आये तथापि यह युध्द प्रधानतया राठौड़ो का ही गिना गया राठौड घराने का मुख्य नेता जसवन्तसिंह इस युद्ध में शाही सेना का प्रधान सेनापति था, रतनसिंह राठौड़, गोवर्धन चांपावत, दयसिंह राठौड आदि अन्य कई राठौड सेनानायक तथा जोधपुर राज्य की सारी सेना जसवन्तसिंह के साथ थी और इस युद्ध में कोई १७० से अधिक राठौड योद्धा खेत रहे। अतएव अन्य राजपूत घरानों की ख्यातों आदि में इस युद्ध की विशेष चर्चा नहीं पाई जाती है।

जसवन्तसिंह, इस शाही सेना का प्रधान सेनापति था, उसने इस युद्ध में बहुत बहादुरी दिखाई उसके दो घाव भी लगे, तथापि अपने राजपूत वीरों को यथाशक्य उत्साहित कर उसने शत्रुओं का साहस और वीरता के साथ सामना किया था। परन्तु युद्ध मे हारकर जसवन्तसिंह का युद्ध-क्षेत्र से जीवित लौटना, राजपूत योद्धाओं की प्रथा के विरुध्द, वीर सैनिकों की आन-बान को नष्ट कर देने वाली तथा जोधपुर के सुप्रसिद्ध राजघराने के इतिहास को कलंकित करने वाली घटना थी। जिस प्रकार जसवन्तसिंह की वीर राजपूत महारानी ने इस कलङ्क को धोने का प्रयत्न किया उसे लेकर कई एक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हुईं। अतएव न तो जोधपुर राज्य की ख्यातों और न जोधपुर के राजघराने सम्बन्धी काव्यग्रन्थो में ही इस युद्ध का विस्तृत विवरण मिलता है। जोधपुर राज्य की ख्यात में इस युद्ध में मारे गए और घायल हुए व्यक्तियों की पूरी पूरी सूची दी है (ख्यात० १ पृ २०७-२२५) किन्तु युद्ध का विवरण बहुत ही संक्षिप्त केवल डेढ़ पृष्ठ में ही समाप्त कर दिया गया (ख्यात० १ पृ० २०६-७) इस युद्ध के ११० वर्ष बाद 'सूरज प्रकाश' की रचना करते समय कवि करणीदान ने भी इस युध्द में जसवन्तसिंह की वीरता का वर्णन कर केवल डेढ़ पद्य में ही इस युद्ध का विवरण समाप्त कर दिया (पृ० ११०-१११)।

किन्तु इस युध्द में मर कर रतनसिंह राठौड ने अमरत्व प्राप्त किया। उसके साहस उसकी वीरता तथा युद्ध-क्षेत्र में लड़ते हुए मारे जाने के कारण रतनसिंह मालवा के राजपूतों के लिए एक आदर्श तथा पूजनीय व्यक्ति बन गया और मालवा ही नहीं सारे राजस्थान में भी उनके अनुपम आत्म-त्याग और वीरता की कीर्ति गाई जाने लगी। रतनसिंह के शौर्य, मर मिटने की भावना और उत्कट राजभक्ति ने कवियों को मोह लिया और उन्होंने रतनसिंह की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए इस युद्ध का विशद विवरण लिखा। इस प्रकार हमें जसवन्तसिंह की सेना में होने वाली घटनाओं का विस्तृत विवरण दो हिन्दी काव्यों में मिलता है। फारसी ऐतिहासिक आधार ग्रन्थों की इस कमी को ये हिन्दी काव्य पूरा करते हैं।

ये दो हिन्दी काव्य हैं कवि खड़िया जग्गा कृत 'वचनिका राठौड़

---

[^1]खड़िया जगा अथवा जगा नामक एक चारण कवि रतनसिंह के दरबार में भी था। वह रतनसिंह के साथ धरमत गया था एवं धरमत के इस युद्ध में वह घायल हुआ। रतनसिंह का

रतनसिंघ महेसदासोतरी" 'तथा कवि कुम्भकर्ण कृत 'रतनरासो"।

"वचनिका" में कवि खड़िया जगा ने इस युद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। कवि जगा रतनसिंह के दरबार का राजकवि था; उसने इस डिंगल काव्य की रचना की थी। रतनसिंह के साथ ही वह भी उज्जैन और धरमत गया। कहा जाता है कि युद्ध प्रारम्भ होने से पहिले ही कवि जगा को आज्ञा हुई कि वह युद्ध में भाग न ले जिससे कि युद्ध के बाद जीवित रह कर वह अपने वीर स्वामी के शौर्य और साहस का ठीक ठीक विवरण लिख सके। यों किम्वदन्ती के आधार पर यह माना जाता है कि कवि जगा ने सारा युद्ध आँखों देखा एवं अपनी निजी जानकारी से उसका पूरा विवरण 'वचनिका' में लिखा। टेसीटोरी के विचारानुसार इस काव्य की रचना युद्ध के कुछ ही काल बाद हुई होगी (वचनिका०, इण्ट्रोडक्शन, पृ० १-२)। अतएव इस काव्य में दिए गए वर्णन का ऐतिहासिक महत्व विचारणीय अवश्य है। इस काव्य का सम्पादन टेसीटोरी ने किया, एवं इस काव्य का मूल-ग्रंथ बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने सन् १९१७ ई० में प्रकाशित किया। उक्त काव्य का अंग्रेजी अनुवाद तथा उसके ऐतिहासिक महत्व आदि पर टेसीटोरी की भूमिका बाद में प्रकाशित होने वाली थी, परन्तु अब तक नहीं हुई।

सर यदुनाथ ने "हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब" की दूसरी जिल्द पहली बार सन् १९१२ ई० में प्रकाशित की तब उन्हें यह काव्य प्राप्त न था। परन्तु यह 'वचनिका' प्रकाशित होने पर भी, भाषा की दुरूहता के कारण, डिंगल भाषा से अपरिचित विद्वानों के लिए दुष्प्राप्य ही रही। यही कारण था कि जब सन् १९२५ ई० में "हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब" की प्रथम दो जिल्दों का संशोधित एवं संयुक्त संस्करण तैयार किया गया, तब भी 'वचनिका' में वर्णित घटनाओं की जाँच-पड़ताल नहीं की जा सकी।

कवि कुम्भकर्ण कृत 'रतनरासो" की रचना सन् १६७५ ई० के लगभग उज्जैन में हुई थी। कवि कुम्भकर्ण रतनसिंह के ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी रामसिंह राठौड़ का आश्रित न था, तथापि इस कवि के घराने का प्रारंभ में जोधपुर के राजघराने से एवं बाद में महेशदास तथा उसके वंशजों के साथ पर्याप्त सम्बन्ध रहा, ऐसा ज्ञात होता है (रासो० पृ० ५-१२)। इस ग्रंथ द्वारा महेशदास और रतनसिंह सम्बन्धी कई एक कौटुम्बिक बातें ज्ञात होती हैं। कवि ने कई स्थानों पर अत्युक्तिपूर्ण विवरण लिखा है। कल्पनापूर्ण काव्यमय वर्णन भी यत्र-तत्र पाए जाते हैं। इस ग्रंथ के अन्तिम भाग में कवि ने मुगल

---

*कास्स कवि खड़िया जगा पूर्णतया विभिन्न व्यक्ति था, किन्तु नामों में साम्य होने के कारण प्रायः भ्रम हो जाता है। वसा० २, पृ० २२०; वचनिका०, इण्ट्रोडक्शन, पृ० १-४

साम्राज्य में अराजकता उत्पन्न होने, जसवन्तसिंह के मालवा भेजे जाने, रतनसिंह के रतलाम जाकर वहाँ अपने पुत्र रामसिंह को पूरे अधिकार देने, युद्ध के पूर्व की रात्रि की घटनाओं एवं युद्ध का विस्तृत विवरण लिखा है (पृ०८४-१४१)।

यद्यपि इस ग्रंथ की प्रतियाँ राजस्थान और मालवा में बहुतायत से मिलती हैं, तथापि यह ग्रंथ अब तक छपकर प्रकाशित नहीं हुआ। अतएव मालवा से सुदूर प्रान्तों के लेखकों का इस ग्रंथ की ओर ध्यान नहीं गया। यह ग्रंथ प्रधानतया पिंगल में है किन्तु भाषा यत्र-तत्र मिश्रित होने के कारण काफी दुरूह होगई है।

यह ग्रंथ रतनसिंह की मृत्यु के कोई २० वर्ष बाद लिखा गया। मालवा में रहकर कवि ने उस युद्ध सम्बन्धी बातों की पूरी जानकारी प्राप्त की होगी। रतनसिंह और उसके उत्तराधिकारी के साथ कवि का घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण उसे वहां से प्रामाणिक विवरण प्राप्त हुआ होगा। इस युद्ध सम्बन्धी घटनाओं का जो विवरण कवि कुम्भकर्ण ने लिखा वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

इन दोनों ग्रंथों से धरमत के युद्ध सम्बन्धी जो २ नवीन बातें ज्ञात होती हैं उनका क्रमशः संक्षेप में यहां उल्लेख करना आवश्यक है।

"वचनिका" के अनुसार अप्रेल १४, १६५८ ई० की संध्या के समय जसवन्तसिंह ने अपने समस्त राजपूत सेनानायकों को एकत्र कर उनसे पूछा कि औरंगजेब और मुराद का सामना किया जावे या नहीं। और सब सेनानायकों तथा सरदारों ने अर्ज की कि "महाराज। ऐसे मामलों के बारे में आपसे अधिक और कौन जानता है। यदि आप सलाह ही लेना चाहते हैं तो रतनसिंह से पूछिए।" तब जसवन्तसिंह ने कहा— "मैं तो यही उचित समझता हूं कि हम सब प्राणों का मोह छोड़ कर लड़ते हुए मारे जावें, और वीरतापूर्वक ऐसा विकट युद्ध करें कि चिरकाल तक उसकी चर्चा होती रहे।" रतनसिंह से अब रहा न गया उसने निवेदन किया—"महाराज। आप कुल के दीपक हैं, अतः आप स्वयं युद्ध में भाग न लें। शाही सेना का सेनापतित्व मुझे सौंपिए तथा रणभूमि का राज्य मुझे प्रदान कर आप पृथ्वी के राज्य का उपभोग करें। महाभारत जैसे युद्ध में भी दुर्योधन को पीछे रख कर लड़ने के लिए कर्ण ही आगे बढ़ा था। युद्ध में बचे रहने से ही राज्य रह सकेगा, और इसके लिए कमधजों (राठोड़ों) को कोई भी बुरा नहीं कहेगा।" यह कह कर रतनसिंह ने अपने शस्त्र उठाए और जसवन्तसिंह और वहां उपस्थित राजपूत सरदारों से सदा के लिए विदा लेकर युद्ध की तयारी करने के लिए वह अपने डेरे पर लौट आया (पृ० १४-१६)। उस रात्रि को राजपूतों का सहभोज हुआ तथा उनके

बाद रतनसिंह का दरबार जुड़ा, जिसमें उसने अपने सेनानायकों, प्रधान सरदारों तथा अन्य वीर साथियों को युद्ध के लिए उत्साहित किया। राजपूत एवं चारण वीरों ने रतनसिंह के निश्चय को सराहा तथा उसके साथ मर-मिटने को उद्यत हुए। (पृ० १९-२८)।

दूसरे दिन युद्ध की तैयारियाँ हुई। घमासान युद्ध प्रारम्भ हुआ। (पृ० ३८-३९,४ -४३)। तोपें चलने लगीं और राजपूत वीरों ने उन पर पूरे वेग के साथ हमला किया (पृ० ४४-६)। इस प्रकार तीन पहर तक दोनों सेनाएं लड़ती रहीं। जब चौथा पहर प्रारम्भ हुआ, राठौड़ वीर रिणमल जोधा ने कहा- "किसी भी प्रकार से राजा जसवन्तसिंह को अब बचाना चाहिए। हम तो युद्ध में शत्रु का सामना करते हुए कट मरें, किन्तु, 'ओछो वाढ़ा जसराज काढ़ो।' जसवन्तसिंह को युद्ध क्षेत्र से लेजाओ।" तब घोड़े की बागें पकड़ कर जसवन्तसिंह को युद्ध-क्षेत्र से ले गए। जाते समय जसवन्तसिंह ने युद्ध का भार रतनसिंह को सौंपा। तब तो रतनसिंह जसवन्तसिंह से प्राप्त सारे शाही नौबत, निशान, तोप एवं झण्डों को अपने साथ लेकर युद्ध में आगे बढ़ा। (पृ० ४६-७)। युद्ध में लड़ मरने का निश्चय कर रतनसिंह अपने वीर सरदारों के साथ शत्रुओं से जा भिड़ा। एक एक कर उसके सारे वीर साथी मारे गए, तथापि रतनसिंह अपने सैनिकों को उत्साहित कर उसी साहस के साथ वीरतापूर्वक लड़ता ही रहा। इसी प्रकार युद्ध करते हुए अन्त में बुरी तरह घायल होकर रतनसिंह धरती पर गिर पड़ा। इस युद्ध में उसे कुम्भास तीर और तलवार के अस्सी घाव लगे। (पृ० ४७-७३)।

रतनसिंह के गिरते ही शाही सेना की ओर से शाहजादों का सामना करने वाला कोई न रहा, एवं युद्ध समाप्त हो गया, और शाहजादों ने विजय के नगाड़े बजाए। (पृ० ७४) घायल रतनसिंह की वहीं युद्ध-क्षेत्र पर ही मृत्यु हुई। युद्ध-क्षेत्र में बिखरे हुए तीर और भालों को एकत्रित कर उनकी चिता रची गई तथा जहाँ रतनसिंह घायल होकर पृथ्वी पर गिरा था वहाँ ही उसकी दाहक्रिया की गई। (पृ० ७५)।

"रतनरासो" में कवि कुंभकर्ण ने इन्हीं घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया है :-

शाहजादों ने जसवन्तसिंह को लिख भेजा कि वह उनकी राह न रोके परन्तु जसवन्तसिंह ने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। तब तो दोनों सेनाएं युद्ध के लिए बढ़ीं। उज्जैन शहर के पास क्षिप्रा के तट पर दोनों सेनाएं आमने-सामने आ डटीं। (पृ० १२१-१२९)।

"अन्त में युद्ध का दिन आ ही गया। युद्ध मे शत्रुओं का सफलता पूर्वक सामना करने के लिए जसवन्तसिंह ने अपनी सेना की व्यूह रचना का और विभिन्न सेनानायकों को निश्चित क्रम से खड़ा किया। सबसे आगे भीमसिंह सिसोदिया का पुत्र रायसिंह सिसोदिया था। तदनन्तर इफ्तीखार खाँ तातार था, एव उसके बाद कोटा का मुकुन्दसिंह हाड़ा अपने चार भाइयों एवं सैनिकों को लेकर खड़ा था। दयालदास झाला और उसका भाई रायोदास झाला अपने सैनिक लेकर मुकुन्दसिंह हाड़ा के पीछे थे। अन्त में जसवन्तसिंह ने रतनसिंह राठौड़ और उसके सैनिकों को रखा और उसके बाद ही स्वयं अपने सैनिकों को लेकर लड़ाई के लिए तत्पर था। जसवन्तसिंह के साथ इस समय आसकरण नीम्बावत, राठौड़ महेशदास सूरजमलोत राठौड़ वीर गोवर्धन कापावत, आदि सेनानायक थे (पृ० १२७)।

'दोपहर के समय युद्ध प्रारम्भ हुआ। रतनसिंह को अपने सामने देख कर जसवन्तसिंह युद्ध करने लगा। आसकरण का पुत्र, दुर्गादास, वीरता दिखाने लगा। (पृ०१२५)। जसवन्तसिंह की सेना के कई वीर मारे गए। इसी समय शाहजादों की सेना ने शाही सेना पर दबाव डाला और उस पर गोलाबारी भी शुरू करदी। तब तो रायसिंह सिसोदिया, एक दाक्षिणी सरदार मिठो और मालू भाग खड़े हुए, जिससे शाहजादा का साहस और भी बढ़ा तथा वे शाही सेना को अधिकाधिक दबाने लगे। उन्होंने शाही खजाने को लूटा और शाही सेना के डेरों पर भी अधिकार कर लिया। औरंगजेब सेना लेकर शाही सेना के पीछे जा पहुचा, सुलतान नबी (औरंगजेब के पुत्र मुहम्मद सुलतान) ने शाही सेना के दाहिने पहलू पर दबाव डाला, तथा हराल की ओर से मुराद ने हमला किया। इस प्रकार जसवन्तसिंह की सेना का व्यूह चारों ओर से छिन्न-भिन्न हो गया। अब राजपूत सेनानायकों ने शत्रु पर हमला करना ही उचित समझा, तथा 'राम राम' के जयघोष के साथ उन्होंने अपने घोड़े भी दौड़ा दिए। (पृ०१२६)। मुकुन्दसिंह हाड़ा और उसके चारों भाई इन घुड़सवारों के साथ शत्रु की ओर वेग के साथ बढ़े। दयालदास झाला ने उन्हीं के पीछे २ अपने घोड़े भी बढ़ाए। दोनों ओर की सेनाएं गुथ गईं। मुकुन्दसिंह हाड़ा, मोहनसिंह हाड़ा, दयालदास झाला, अर्जुन गौड़, सुजानसिंह सिसोदिया और उदयसिंह राठौड़ मारे गए। किशोरसिंह हाड़ा घायल होकर गिर पड़ा। हजारों हिन्दू वीर युद्ध मे काम आये। यहीं रतनसिंह राठौड़ भी अपने भाई फतेहसिंह और पुत्र रायसिंह को लेकर युद्ध कर रहा था। साचोरा वीर शार्दूल चौहान के पुत्र, अमरदास और भगवानदास, रतनसिंह के हराल में दाहिनी तथा बाईं ओर शत्रुओं का सामना कर उन्हें दबा रहे थे। जसा बारहट भी रतनसिंह के साथ ही युद्ध में रत था (पृ०१२७)।

राम्पूर्ण घुड़सवारों के इस आक्रमण तथा रतनसिंह राठौड़ आदि वीरों के बल

दबाव ने शाहजादों की सेना के छक्के छुड़ा दिए। इस परिस्थिति को देख कर औरंगजेब ने तुरन्त वहाँ सहायता के लिए और सेना भेजी, जिससे शाहजादों के सैनिक उत्साहित हो उठे। (पृ०१२८)। उनकी ओर से पुनः तोपें चलने लगीं, घमासान युद्ध होने लगा, और शाहजादों की सेना शाही सेना को एक बार फिर पीछे दबाने लगी। शाही सेना अब घबरा कर युद्ध क्षेत्र से भाग जाने के लिए उतारू देख पड़ी, परन्तु जसवन्तसिंह तब भी डटा ही रहा। शाही सेना की हार निरन्तर स्पष्टतर होती जा रही थी एवं अब राठौड़ वीर आसकरण, महेशदास सूरज-मलोत और गोरधन, जसवन्तसिंह को रण-क्षेत्र छोड़ने के लिए बाध्य करने लगे; रतनसिंह ने भी जसवन्तसिंह को जोधपुर लौट जाने के लिए बहुत कुछ कहा; तब अन्त में विवश होकर जसवन्तसिंह ने शाही सेना का सेनापतित्व रतनसिंह को सौंपा। जसवन्तसिंह को साथ लेकर आसकरण तथा महेशदास जोधपुर के लिए रवाना हुए (पृ०१३२)।

"अब रतनसिंह ने जसवन्तसिंह से प्राप्त, शाही सेनापति के सारे सम्मान चिन्हों को धारण किया और उनके साथ अपने जीवन का अन्तिम युद्ध करने के लिए वह आगे बढ़ा। उसके निजी सेनानायकों और सैनिकों के अतिरिक्त जोधपुर की सेना के भी कई वीर सेनानी इस समय रतनसिंह के साथ थे। प्राणों पर खेल कर रतनसिंह अलौकिक वीरता तथा अद्वितीय साहस के साथ लड़ने लगा। रतनसिंह के कई घोड़े बारी २ से घायल होकर गिर पड़े और हर बार वह किसी दूसरे घोड़े पर सवार होकर पुनः युद्ध में जुट गया। उसके वीर साथी एक २ कर गिरने लगे, फिर भी अपने इने गिने वीरों को लेकर रतनसिंह लड़ता ही रहा। घावों से जर्जरित होकर अन्त में रतनसिंह युद्ध क्षेत्र में गिर पड़ा। चौहान वीर अमरदास और भगवानदास भी बुरी तरह घायल होकर रतनसिंह के पास ही गिरे। जसराज बारहठ भी वहीं खेत रहा। रतनसिंह का भाई फतेहसिंह भी यहीं काम आया और रतनसिंह का नवयुवा पुत्र रायसिंह भी घायल होकर पास ही गिरा (पृ० १३५-१३६)। इस तरह इस युद्ध का अन्त हुआ। औरंगजेब और मुराद विजयी होकर हर्षित हुए" (पृ०१४१)।

सर यदुनाथ सरकार ने इस युद्ध का जो विवरण लिखा है उसमें तथा उपर्युक्त दोनों विवरणों में विभिन्नता प्रधानतया दो ही बातों में पाई जाती है। जहाँ "रतनरासो" और "वचनिका" के अनुसार रतनसिंह की मृत्यु सबसे बाद एवं जसवन्तसिंह के युद्ध क्षेत्र छोड़ने के अनन्तर ही हुई, वहीं सर यदुनाथ सरकार के मतानुसार रतनसिंह राठौड़ राजपूत घुड़सवारों के पहले हमले के समय ही मारा गया। सर यदुनाथ लिखते हैं—"हरोल के राजपूत सेनानायक-मुकुन्दसिंह

हाड़ा, रतनसिंह राठौड़, दयालसिंह (दयालदास) झाला अर्जुनसिंह गौड, सुजानसिंह सिसोदिया एवं अन्य अपने चुने हुए साथियों को लेकर सरपट आगे बढ़े। वे चारों ओर से घिर गए थे, उनकी संख्या निरन्तर घटती ही जा रही थी, तथा उनकी सहायता के लिए अन्य कोई सैनिक दल भी नहीं आ रहा था अतएव ये राजपूत हतोत्साह हो गए और उनका वेग रुक गया। उनके प्रर नेता मुकुन्दसिंह हाडा की आँख में तीर लगा जिससे वह मर कर गिर पड़ा। इस हमले में भाग लेने वाले छः राजपूत राजा मारे गए।' (औरंग , १-२ पृ० ३६०,३६३)।

दूसरे, "रतन रासो" और "वचनिका" के अनुसार युद्ध-क्षेत्र छोड़ते समय जसवन्तसिंह ने युद्ध में रही बाकी शाही सेना के संचालन का भार रतनसिंह को सौंपा था, एवं जसवन्तसिंह के युद्ध क्षेत्र छोडने के बाद भी कुछ समय तक रतनसिंह और उसके साथी वीरतापूर्वक शाहजादों की सेना का सामना करते ही रहे। सर यदुनाथ के मतानुसार रतनसिंह की मृत्यु पहिले ही हो चुकी थी एवं रतनसिंह को सेना-संचालन का भार सौंपने का कोई प्रश्न ही नहीं रह गया था। जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र छोडने के बाद शाही सेना की जो गति-विधि हुई उसका सर यदुनाथ ने इस प्रकार वर्णन किया है- "युद्ध में शाही सेना की हार हुई यह बात स्पष्ट हो गई थी। राठौडों [जसवन्तसिंह और उसके साथियों] के युद्ध-क्षेत्र छोड़ते ही शाही सेना के बाकी रहे विरोध का भी अन्त हो गया। शाही सेना के जो बचे-खुचे दल अब तक शाहजादों की सेना का सामना कर रहे थे, वे भी युद्ध क्षेत्र छोड कर भाग खड़े हुए। राजपूत सैनिक अपने-अपने घरों को लौट गए एवं मुसलमान सैनिकों ने आगरा की राह ली।' (औरंग० १-२, पृ० ३६६)।

यह पहिले ही बताया जा चुका है कि सर यदुनाथ ने अपना विवरण प्रधानतया फारसी इतिहास-ग्रंथों के ही आधार पर लिखा है। अब इन हिन्दी काव्यों से जो दो नई बातें ज्ञात हुई हैं वे ऐतिहासिक दृष्टि से कहाँ तक मान्य और विश्वसनीय हैं इसकी जाँच के लिए इन दो घटनाओं को निम्नलिखित दो कसौटियों पर कसना होगा। (१) जो नई घटनाएं ज्ञात हुई हैं, वे फारसी एवं अन्य प्रमाणिक ऐतिहासिक आधार ग्रंथों से प्राप्त तथा इतिहासकारों द्वारा सर्वमान्य घटनाक्रम आदि से कहाँ तक विरुद्ध पड़ती हैं, एवं कहाँ तक उनके साथ इनका सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है? (२) प्रमाणिक ऐतिहासिक घटनावली तथा ज्ञात तत्कालीन परिस्थितियों में इन नई घटनाओं का घटना कहाँ तक संभव जान पड़ता है?

सर यदुनाथ के मतानुसार इस युद्ध के विवरण के लिये प्रधान आधारग्रंथ हैं -'आलमगीर-नामा', जफरनामा-इ-आलमगीरी' और ईश्वरदास कृत 'फतूहात-इ-आलमगीरी', इनमें से जसवन्तसिंह की

सेना सम्बन्धी घटनाओं के लिए ईश्वरदास कृत इतिहास विशेष महत्व का है। कम्बू कृत 'आलम-इ-स्वालेह' समकालीन होते हुए भी दूसरे दर्जे का आधारग्रंथ माना गया। (औरंग०, १-२,पृ० ३५८ फु ना.)।

रतनसिंह की मृत्यु कब हुई, इस प्रश्न का उत्तर उक्त फारसी आधार-ग्रंथों में ढूंढने पर निम्न लिखित परिणाम निकलता है। 'जफरनामा-इ-आलमगीरी' में कहीं भी रतनसिंह का नाम नहीं मिलता है। ऐसे ही 'फतूहात-इ-आलमगीरी' में ईश्वरदास ने रतनसिंह का कोई भी उल्लेख नहीं किया। इस युद्ध में रतनसिंह ने क्या भाग लिया इस प्रश्न पर कम्बू भी पूर्णतया मूक है। केवल 'आलमगीरनामा' में ही रतनसिंह का कुछ जिक्र मिलता है। पहिले हरोल में नियुक्त सरदारों में रतनसिंह का भी नाम दिया। मुकुन्दसिंह हाड़ा के साथ युद्ध सवारों के हमले में वीर गति प्राप्त करने वाले सेनानायकों की सूची में रतनसिंह का भी उल्लेख है। (आ० ना०, पृ० ६४)। सर यदुनाथ ने रतनसिंह सम्बन्धी उक्त उल्लेख 'आलमगीर नामा' के ही आधार पर किया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि रतनसिंह के मृत्यु-समय को निश्चित करने में किसे अधिक विश्वसनीय समझा जावे, 'आलमगीरनामा' को या 'वचनिका' एवं 'रतन रासो' को। 'आलमगीर नामे' के विरोध में 'वचनिका' एवं 'रतनरासो' की ऐतिहासिकता का महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है। 'वचनिका' का कवि उस दिन युद्ध क्षेत्र पर स्वयं उपस्थित था। उस युद्ध का उपर्युक्त विवरण उसने आंखों देखी घटनाओं निजी जानकारी तथा विश्वसनीय व्यक्तियों से ज्ञात बातों के ही आधार पर लिखा था, अतएव उसमें दी हुई घटनावली विचारणीय अवश्य है। इसी प्रकार यद्यपि 'रतन रासो' युद्ध के कोई बीस वर्ष बाद लिखा गया था, किन्तु उसके रचयिता का रतनसिंह के घराने के साथ गहरा सम्बन्ध था अतएव उस युद्ध में उपस्थित तथा भाग लेने वाले व्यक्तियों से युद्ध की घटनाओं सम्बन्धी ठीक २ विवरण प्राप्त करना उसके लिए बहुत ही सरल था। कवि ने उज्जैन में रह कर इस काव्य की रचना की थी, अतएव वहां इस युद्ध के समकालीन बड़ों-बूढ़ों और इस युद्ध को आंखों देखने वाले व्यक्तियों से भी उसे कई महत्वपूर्ण बातें ज्ञात हुई होंगी। 'रतन रासो' में दी गई अन्य घटनावली में कई एक त्रुटियां अवश्य पाई जाती हैं, किन्तु प्रायः उसमें वर्णित ऐतिहासिक बातों का ज्ञात घटनाक्रम से समर्थन ही होता है। अतएव इन दोनों काव्य-ग्रंथों को किसी भी प्रकार अनैतिहासिक या सर्वथा अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता है।

इसके विपरीत इस युद्ध के समय जसवन्तसिंह के सेनापतित्व में आने वाली विरोधी शाही सेना में कब क्या हुआ, एवं रतनसिंह कब, कहां लड़ा तथा

कब वह मारा गया इसका औरंगजेब तथा उसके साथियों को पूरा पूरा और ठीक पता लग सका हो यह असंभव सा प्रतीत होता है। युध्द की प्रधान हलचलें, युद्ध के प्रारम्भ में विरोधियों के महत्वपूर्ण हमले तथा उनके विशिष्ट नेताओं के कारनामे युध्द की अन्तिम घड़ियों में विरोधी सेनापतियों का युध्द क्षेत्र छोड़ना, तथा युध्द में मारे गए महत्वपूर्ण विरोधी सेनानायकों की ठीक सूची, औरंगजेब और उसके साथियों को ज्ञात हो गई होगी किन्तु उसे प्रत्येक विरोधी सेनानायक के व्यक्तिगत कारनामों का ठीक एवं पूरा विवरण प्राप्त हो सका होगा यह कठिन ही जान पड़ता है। अतएव इस प्रकार के व्यक्तिगत मामलों में जहाँ किसी भी विरोधी सेनानायक के घटनाक्रम को निश्चित करना हो 'आलमगीर नामे' में दिए गए संक्षिप्त विवरण को सर्वथा निर्विवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता है। पुनः जो विवरण 'वचनिका' और 'रतन रासो' में रतनसिंह के बाद में मारे जाने का दिया है वह किसी प्रकार असंभव भी नहीं जान पड़ता है। अतएव पूर्ण विचार के बाद यही ठीक जान पड़ता है कि रतनसिंह की मृत्यु के समय का जो क्रम 'रतन-रासो' एवं 'वचनिका' में दिया है वह मान्य तथा इस बारे में 'आलमगीर नामा' का कथन अस्वीकार्य है।

अब दूसरा प्रश्न सामने आता है कि क्या जसवन्तसिंह ने युद्ध क्षेत्र छोड़ते समय शाही सेना का सेनापतित्व रतनसिंह को सौंपा था? इस बारे में फ़ारसी ग्रंथों में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। ईश्वरदास ने अपना ग्रंथ इस युद्ध के कोई ४० ५० वर्ष बाद लिखा था तब तक जसवन्तसिंह एवं इस युद्ध से बच निकलने वाले वीर भी मर चुके थे, एवं तब इस प्रकार के निजी प्रश्नों पर प्रकाश पड़ना सम्भव नहीं था। ख्यात० (१, पृ० २०६-२०७) का इस बारे में मूक रहना स्वाभाविक ही है। अतएव इस प्रश्न पर विचार करने के लिए 'वचनिका' और 'रतनरासो' के अतिरिक्त दूसरा कोई ऐतिहासिक आधार-ग्रंथ नहीं रह जाता है। 'वचनिका' और 'रतनरासो' में इस बारे में जो लिखा है वह स्वीकार करने से पहिले यह विचार करना आवश्यक है कि क्या फ़ारसी ग्रंथों के आधार पर जसवन्तसिंह के युद्ध क्षेत्र छोड़ने के बाद भी युद्ध का होता रहना संभव जान पड़ता है।

नफर० (पृ० ३१-३२) के अनुसार जसवन्तसिंह के युद्ध क्षेत्र छोड़ने के बाद बाकी सेना तितर बितर हो गई, और इन भागने वालों के साथ औरंगजेब की सेना की लड़ाई हुई, जिसमें कई शाही सैनिक मारे गए। 'आलमगीर नामा' में इस प्रकार के किसी भी युद्ध की कोई चर्चा नहीं है (पृ० ६४)। ईश्वरदास (पृ० ७० अ) जसवन्तसिंह के साथ 'बहुत से सरदारों' का जोधपुर के लिए रवाना होने का जिक्र करता है। युद्ध-क्षेत्र में पीछे रहने वाले सरदार और

सैनिकों ने क्या किया, इसका उसने कुछ भी हाल नहीं लिखा है। कम्बू० (३, पृ० २८७) युद्ध की अन्तिम घड़ियों में शाही सेना के दो दल हो जाने का उल्लेख करता है। ये दोनों दल युद्ध-क्षेत्र के तंग दर्रे में घिर गए और वहां लड़ते रहे। जसवन्तसिंह के पांव में चोट आई और अन्त में वह तथा कासिम खां युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर रवाना हो गए। औरंगजेब ने इनका कुछ मीलों तक पीछा किया। एक दल के इस प्रकार चले जाने के बाद दूसरे दल का क्या हुआ, इस प्रश्न पर कम्बू० कोई भी प्रकाश नहीं डालता है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जसवन्तसिंह के युद्ध-क्षेत्र से रवाना होने के बाद भी कुछ समय तक बहुत कुछ मारकाट होती ही रही। सर यदुनाथ ने भी शाहजादों की सेना का तब भी सामना करने वाले शाही सेना के बचे खुचे दलों का उल्लेख किया है (औरंग०, १-२, पृ० ३६६)। किन्तु युद्ध की इन अन्तिम घड़ियों में शाही सेना के प्रधान सेनापति जसवन्तसिंह तथा कासिम खां का युद्ध-क्षेत्र छोड़ना ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना थी। इसके बाद भी शाही सेना के कौन वीर शाहजादों का सामना करते रहे तथा उन्होंने क्या वीरता दिखाई ये बातें मुगल साम्राज्य के इतिहासकारों तथा औरंगजेब के जीवन और उसकी सफलताओं का विवरण लिखने वालों के लिए सर्वथा गौण और महत्वहीन थी, एवं उन्होंने न तो इस ओर कुछ ध्यान दिया और न उन पर कोई प्रकाश डालना ही आवश्यक समझा। यही कारण है कि हमें फ़ारसी आधार ग्रंथों में इस प्रश्न बाबत कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। तथापि थोड़ा बहुत जो भी विवरण हमें मिलता है उससे 'रतन रासो' और 'वचनिका' में वर्णित रतनसिंह का अन्तिम युध्द पूर्णतया अशक्य बात नहीं ज्ञात होती है।

जसवन्तसिंह जिस समय युध्द-क्षेत्र से रवाना हुआ तब तक मुकुन्दसिंह हाड़ा मारा जा चुका था कासिम खां पहिले से ही युध्द से किनारा काट रहा था एवं शाही मनसबदारों में सर्वोच्च सेनानायक रतनसिंह ही बाकी बच रहा। ऐसे समय जसवन्तसिंह का युध्द क्षेत्र में लड़ती हुई बाकी रही सेना का भार रतनसिंह को सौंपना स्वाभाविक ही नहीं न्यायसम्मत भी था।

अतएव समग्र प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री पर पूर्णतया विचार करने के बाद यही निर्णय किया जाता है कि रतनसिंह को जसवन्तसिंह द्वारा बाकी रही शाही सेना का भार सौंपने तथा इसके बाद रतनसिंह का पूर्ण वीरता के साथ लड़ते हुए इस सारे युध्द के अन्त में मारे जाने का जो विवरण 'रतन रासो' और 'वचनिका' में दिया है, यद्यपि फारसी आधार-ग्रंथों द्वारा उस विवरण की पुष्टि नहीं की जा सकती है, किन्तु वे सर्वथा असंभव और अनहोनी बातें साबित नहीं होती हैं। इन दोनों काव्य-ग्रंथों द्वारा इस युद्ध सम्बन्धी कई एक नई घटनाएं ज्ञात होती है, और यों इस युद्ध के कई अज्ञात तथा अन्धकारपूर्ण पहलुओं

पर नया प्रकाश पड़ता है। इसीलिए धरमत के युद्ध का विवरण लिखते समय 'रतन-रासो' और 'वचनिका' मे वर्णित उक्त घटनाओं के ऐतिहासिक तथ्यों का यथा-स्थान समावेश कर युद्ध के इस वर्णन को सर्वथा प्रामाणिक तथा सम्पूर्ण बनाया जा सकता है। *

---

* लेखक के नए ग्रन्थ "रतलाम का प्रथम राज्य" (अप्रकाशित) का परिशिष्ट ३।

अपभ्रंश

[श्रीयुत उदयसिंह भटनागर एम. ए., रिसर्चफेलो, भारतीय विद्याभवन, बंबई]

भारतीय भाषाओं के परिवर्तन सम्बन्धी कई 'प्राकृत' कारणों के साथ विदेशी प्रभाव भी एक प्रधान कारण रहा है। विदेशी जातियों ने जब जब इस देश पर आक्रमण किया और अपने राज्य का प्रसार किया, तब तब उन्होंने जन सामान्य की भाषा के उच्चारण को अपनी 'मुखसुख' (Euphony) प्रवृत्ति के अनुसार बिगाड़कर तथा अपनी भाषा के शब्दों को उसमें मिश्रित कर उसको एक नवीन रूप प्रदान किया। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं तथा प्राकृत के बीच की अपभ्रंश भाषा का इतिहास भी कुछ ऐसा ही है। जिस प्रकार मुस्लिम प्रभाव ने अपभ्रंश से परिवर्तित जन सामान्य की 'देशभाषा' को खड़ीबोली का रूप देकर विकसित किया, इसी प्रकार आभीरों ने प्राकृत के अन्तिम रूप को अपभ्रंश का रूप देकर विकसित किया।

आभीर शब्द बहुत प्राचीन है। महाभारत के समय में ये लोग चातुर्वण्य में सम्मिलित कर लिये गये थे परन्तु अपभ्रंश का उनके साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ वह बहुत काल पीछे का है। अपभ्रंश शब्द वैसे सर्व प्रथम खिस्ताब्द के लगभग २०० वर्ष पूर्व पतञ्जलि कृत महाभाष्य में मिलता है-

"एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः।" तद्यथा।

"गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।" *

इसका अर्थ केवल इतना ही है कि एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश रूप होते हैं। यहाँ अपभ्रंश का अर्थ किसी भाषा से नहीं है, परन्तु विकृत, विभ्रंश या विकृष्ट रूप से है। परन्तु गौः शब्द का उदाहरण देकर अपभ्रंश कहने से पतञ्जलि का उद्देश्य संभवतया आभीरों की बोली की ओर रहा हो। इससे

* महाभाष्य-कीलहार्न द्वारा सम्पादित-प्रथम भाग पृ० २।

यही अनुमान किया जा सकता है कि उस समय आभीरों का आर्यों के साथ गो शहन आदि कार्य का संबध स्थापित होजाने के कारण उनकी बोलचाल की भाषा भी घरों में प्रचलित हो रही थी। अत उस समय की बोलचाल की भाषा मे धीरे धीरे इस प्रकार के 'अपभ्रंश' 'विभ्रंश' या 'विभ्रष्ट' रूप बराबर प्रवेश कर रहे थे, जिन्होने आगे चल कर प्राकृत मे एक ऐतिहासिक परिवर्तन कर दिया।

ख्रिस्ताब्द की दूसरी या तीसरी शती के लगभग भरत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' मे संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा के भेद को स्पष्ट किया है -

" एवमतत्तु विज्ञेय प्राकृत सस्कृत तथा।
अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि देशभाषाप्रकल्पनम्॥ " *

इससे स्पष्ट है कि यह देशभाषा संस्कृत और प्राकृत से भिन्न थी और देश के विविध भागो मे बोल चाल की भाषा थी, जो अपनी प्रान्तीय विशेषताएं लिये हुइ थी। इस कारण भाषा के विभिन्न प्रान्तीय भेद थे। इस देशभाषा के प्रान्तीय भेदो का प्रयोग नाटको में मान्य था, क्योकि नाटकों मे नाना देश के पात्रो का बाहुल्य रहता है -

'अथवा छन्दत कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभि।
नानादेशसमुत्थ हि काव्य भवति नाटके॥ " *

भरत ने इस प्रकार की सात भाषाओं का उल्लेख किया है —

' मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता॥ *

अर्थात मागधी, अवन्ति, प्राच्य, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दक्षिणी ये सात भाषाएँ हैं और बहुत सी विभाषाएँ हैं —

" शकराभीरचाण्डालशबरद्रविडोद्रजा।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता॥ " *

जैसे- शकरों आभीरों, चण्डालों, चरो, द्रविड़ो, ओड्रों और हीन जाति के वनचरो की बोलियाँ।

भरत के इस उल्लेख में अपभ्रंश नाम कहीं नहीं है, क्योंकि उसने भाषाओं का उल्लेख किया है। अत अपभ्रंश उस समय इस परिस्थिति तक

---

* भरत नाट्यशास्त्र

विकसित नहीं हुई कि उसे भाषा कहकर कोई नाम दिया जा सके। विभाषाओं के उस समय कोई नाम न थे। वे बोलनेवाली जातियों के ही नाम से प्रसिद्ध थीं; जैसे –

"अङ्गारकरव्याधानां काष्ठयन्त्रोपजीविनाम्।
योज्या शबरभाषा तु किंचिद्वानौकसी तथा॥
गवाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम्।
आभीरोक्तिः शाबरी वा द्रविड़ी द्रविडादिषु॥" *

अर्थात् शबर तथा वानौकसी (जंगली) भाषा का प्रयोग अङ्गारकारों (कोयला बनानेवाले) व्याधों (शिकारी) और काष्ठ-यन्त्रों द्वारा जीविका निर्वाह करनेवाले लोगों द्वारा; तथा आभीरोक्ति और शाबरी गौ, अश्व, ऊँट, आदि चरानेवाले और घोष (ग्वालों के गांव) में निवास करनेवाले आभीरों और गड़ेरियों के द्वारा तथा द्रविडादि द्वारा...।

इस प्रकार आभीरोक्ति † आभीरों की बोली थी। इसी आभीरोक्ति ने अपने प्रभाव से प्राकृत को अपभ्रंश में परिवर्तित किया। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में विभिन्न प्रान्तों की उच्चारण सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख किया है –

"गंगा और सागर के मध्य की भाषा एकार बहुला है; विन्ध्याचल और सागर के मध्य की भाषा नकार बहुला है; सौराष्ट्र, अवन्ति और वेत्रवती के उत्तरीय प्रदेश की भाषा चकार बहुला है। हिमालय, सिन्धु और सौवीर के तटीय प्रदेश की भाषा उकार बहुला है और चर्मवती के उस पार तथा अर्बुद के तटीय प्रदेश की भाषा टकार बहुला है। *

---

* भरत—नाट्यशास्त्र

† इसका यह अर्थ नहीं कि आभीरोक्ति कोई विदेशी भाषा थी। आभीर महाभारत काल से भारतवर्ष में रहते रहते भारतीय हो चुके थे और उनकी भाषा में केवल कुछ विदेशी शब्द ही अवशेष रह गये थे। अपभ्रंश भाषा के जो प्राचीन रूप मिलते हैं, उनके आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि उनमें संस्कृत तथा प्राकृत के अपभ्रंश रूप ही अधिक मिलते हैं और विदेशी रूप बहुत कम हैं।

* गंगासागरमध्ये तु ये देशाः संप्रकीर्तिताः।
एकार बहुलां तेषु भाषा तज्ज्ञः प्रयोजयेत्॥
विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतिमागताः।
नकार बहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत्॥

ऊपर हिमालय, सिन्धु और सौवीर के तटीय प्रदेश का जो उल्लेख किया गया है, वे ही प्रदेश उस समय आभीरों के निवास स्थान थे। इन प्रदेशों की भाषा उकार बहुला कही गई है। अतः आभीरों की बोली "आभीरोक्ति" भी उकार बहुला थी। अपभ्रंश भाषा की एक प्रधान विशेषता उकार बहुलता है जिसका उल्लेख हेमचन्द्र ने भी किया है और अपने व्याकरण में यहा प्रामाणिक उदाहरण दिया है

'दहमुहु भुवण-भयकरु तोसिय-संकरु णिग्गउ रह वरि चडिअउ।
चउमुहु छमुहु झाइवि एक्कहिं लाइवि णावइ दइवें घडिअउ॥"
(४,३३१)

भरत ने 'नाट्य शास्त्र' के ३२ वें अध्याय मे अपभ्रंश छन्दों के जो उदाहरण दिये हैं, उनकी भाषा से पता चलता है कि वह अपभ्रंश का उस समय का रूप है—

"मोरुल्लउ नचन्तउ। महागमे सम्भन्तउ॥" ६६॥

यह बिल्कुल अपभ्रंश है, जिसमे कर्ता एक वचन उकारान्त है। 'महागमे' मे 'म' स्थान मे 'ह' होजाना प्राकृत प्रवृत्ति है। भरत के दूसरे उदाहरण से अपभ्रंश की अन्य प्रवृत्ति भी स्पष्ट हो जाती है।

"मेहउ हउं (?) एेइ जोण्हउ (उ)। णिअ णिप्पहे गहु चदउ"

इसमे उकार प्रवृत्ति के अतिरिक्त 'जोण्हउ (उ) मे लिंग भेद को दूर करने की प्रवृत्ति पाठ भेद के कारण स्पष्ट है। इसी कारण 'जोण्हउ' और 'जोण्हउं' दोनों पाठ मिलते हैं। इसी प्रवृत्ति के कारण अपभ्रंश में लिंग भेद पर अधिक स्पष्टीकरण नहीं है। नपुंसक लिंग प्रदर्शित करने के लिए शब्दों को अनुस्वारान्त किया जाता था। अतः 'जोण्हउं' मे यह नियम भी स्पष्ट है। * हेमचन्द्र ने अपभ्रंश व्याकरण में इस नियम का उल्लेख करते हुए उसके समर्थन मे निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है—

---

* नपुंसक लिंग को अनुस्वारान्त करने की प्रवृत्ति गुजराती में आज भी वर्तमान है।
गङ्गाद्मापनिदेशेषु समुद्रदुत्तरेषु च।
ये देशास्तेषु कुर्वीत एकारबहुलामिह॥
हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः॥
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्॥
चर्मण्वतीनदीपारे ये चार्बुदसमाश्रिताः।
तकार बहुलां नित्यं तेषु भाषा प्रयोजयेत्॥

‘भगाउं देविनशि निअर वनु अनुरागिमई पाम्मु ॥ (४ ३५४)

भरत का विषय अन्य होने के कारण उस भाषा का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, परन्तु फिर भी यह तो स्पष्ट है कि उन्होंने जिस भाषाको उकार बहुला बताया है, वह उन प्रदेशों में बोली जाती थी, जहाँ आरम्भ में आभीर लोग आकर बसे और आसपास के प्रदेशों में फैले। अतः आभीरोक्ति के नाम से प्रसिद्ध यह वही भाषा थी, परन्तु उस समय तक उसका नाम अपभ्रंश न पड़ा हो। भरत के दिये उदाहरण में अपभ्रंश के वे सामान्य नियम मिलते हैं, जिनका हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश अध्याय ४ में उल्लेख किया है। अतः आभीरोक्ति अपभ्रंश का आरम्भिक रूप ही मालूम है, जो खिस्ताब्द की दूसरी और तीसरी शती के लगभग, सिन्धु, मुलतान और उत्तरी पंजाब के आभीरों द्वारा बोली जाती थी और आगे चलकर जब ये लोग दक्षिण और पूर्व की ओर बढ़े तथा अपनी सत्ता जमाली तो इनकी यह भाषा भी ये जहाँ जहाँ गये, वहीं वहाँ प्राकृत के अन्तिम रूप को अपभ्रंश रूप देती चली।

हम ऊपर कह आये हैं कि आभीरों (जो आजकल अहीरों के नाम से प्रसिद्ध हैं) का उल्लेख सर्व प्राचीन ग्रंथ महाभारत में आता है। महाभारत के अनुसार ये आभीर पश्चिम में सिंधु के आस-पास के प्रदेश में आ बसे थे और अनार्य तथा घृणित माने जाते थे। आगे चलकर वे चातुर्वर्ण्य में सम्मिलित कर लिये गये। इन में योद्धा भी हुआ करते थे, जिन्होंने द्रोण द्वारा रचित सुपर्ण व्यूह में प्रमुख भाग लिया था। इनका कार्य लूट-पाट का भी था। इन्होंने द्वारिका से लौटते समय अर्जुन से गोपियों का हरण किया था। मनुस्मृति में इन्हें ब्राह्मण पिता और अम्बष्ठ माता से उत्पन्न (ब्राह्मणात् ''आभीरो-म्बष्ठ कन्यायाम्) माना गया है।

जो कुछ हो खिस्ताब्द के १५०-२०० वर्ष पूर्व उपरोक्त प्रान्तों में इनका आधिपत्य अवश्य रहा और परवर्ती शतियों में इनका प्रभुत्व बढ़ता गया। खिस्ताब्द के १८२ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि किसी क्षत्रप रुद्रसिंह का सैनिक रुद्रभूत अहीर था। नासिक की गुफाओं के खिस्ताब्द ३०० का एक शिलालेख किसी आभीर राजा ईश्वरसेन के राज्य का वर्णन करता है। समुद्रगुप्त के प्रयागवाले स्तम्भ लेख (३६० खिस्ताब्द) के अनुसार राजस्थान और मालवा पर आभीरों और मालवों का आधिपत्य होना पाया जाता है। राजस्थान के प्राचीन स्थानों में रूपादक्ष आभीरों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है और आज भी अलवर में अहीरों की प्रधानता है और वहां की बोली अहीरवाटी के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व में मिर्जापुर में आज भी अहीरों की बस्तियां इनके प्रसार और प्रभुत्व के अवशेष हैं। चौथी शती में कई आभीरों ने अपना राज्य जमा लिया, जिनका वर्णन यहां अनावश्यक है।

आभीरों के प्रसार और आधिपत्य के साथ साथ ही चौथी शताब्दी के लगभग 'आभारोक्ति' अपभ्रंश का रूप धारण कर संभवतः साहित्य में प्रविष्ट हुई, क्योंकि छठी शती में अपभ्रंश के साहित्यिक भाषा होने का प्रमाण मिलता है। अतः इन दोनों वर्षों में अपभ्रंश का साहित्यिक विकास होगया होगा। वल्लभी के राजा धरसेन (द्वितीय) के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसका पिता गुहसेन संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं में प्रबन्ध (काव्य) रचना में निपुणतम था $। धरसेन के शिलालेख ५ १ और ५६६ ख्रिस्ताब्द के प्राप्त हो चुके हैं। अतः वह ५५६-६६ ख्रिस्ताब्द के बीच जीवित था। इससे यह सिद्ध है कि छठी शती में अपभ्रंश भाषा पूर्ण रूप से साहित्य में प्रविष्ट हो चुकी थी।

आगे चलकर आठवीं शती से पूर्व ही, आभीर लोगों ने पूर्व में मगध और दक्षिण में सौराष्ट्र और वहाँ से नासिक तक अपना प्रभुत्व जमा लिया। आठवीं शती में जब काठियों ने सौराष्ट्र पर आक्रमण किया ? उस समय यह प्रदेश आभीरों के अधिकार में था। आठवीं शती के पूर्व ये लोग खानदेश और नासिक में इतने शक्तिशाली थे कि किसी आसा अहीर ने खानदेश में आसेरगढ नामक दुर्ग की स्थापना की, जिसका समर्थन फरिश्ता ने भी किया है। ‡ नवीं शती में सौराष्ट्र में अपभ्रंश काव्य के लिए बिल्कुल उपयुक्त मानी जाती थी।

ऊपर धरसेन के लेख से अपभ्रंश के विषय में जो कुछ ज्ञात होता है वही उसी समय के (छठी शती के) मम्मट ने भी कहा है। उसने काव्य के विभेद बतलाते हुए अपभ्रंश का परिचय दिया है कि काव्य शब्दार्थ सहित गद्य और पद्य दो प्रकार का होता है और भाषा की दृष्टि से काव्य तीन प्रकार का होता है - संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश। *

दण्डी ने काव्य की भाषा के चार भेद बतलाए हैं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश

$ संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्धप्रबन्धरचनानिपुणतरान्तःकरणः। Indian Antiquary Vol x P 284

? Tribes and castes of Bombay, P 24, by R E Enthoven

‡ वही।

* शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यपद्यं च तद्द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥

और मिश्रित। + उसने बोलनेवालों का परिचय भी दिया है जिससे अपभ्रंश और आभिरोक्ति का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है—

"महर्षियों ने संस्कृत को दैवी (देव भाषा) कहा है। विभिन्न प्राकृत भाषाएं संस्कृत से विकसित', 'उसके समान' और 'देशी' हैं। काव्य में आभीरादि की वाणी अपभ्रंश है। शास्त्रों में संस्कृत से इतर भाषाएं अपभ्रंश है। संस्कृत (काव्य) सर्गबन्ध, प्राकृत संधी (स्कन्ध) और अपभ्रंश आसार बन्ध होती है। नाटक तथा कथाओं में मिश्रित भाषाएं होती हैं।" १

संस्कृत से इतर भाषाओं को अपभ्रंश कहकर दंडी ने पतञ्जलि का समर्थन किया है परंतु उसके समय में अपभ्रंश और आभीरों के सम्बन्ध को भी उसने स्पष्ट कर दिया है। अतः यह सिद्ध है कि दंडी के समय में अपभ्रंश साहित्यिक भाषा थी और उसका प्रयोग आभीरों के अतिरिक्त (आभीरादि) अन्य लोग भी करने लग गये थे।

इस प्रकार भरत के समय में आभीरी नाम से प्रसिद्ध आभीरोक्ति दंडी के समय में (७ वीं ८ वीं शती) अपभ्रंश में परिगणित होकर बोलचाल तथा साहित्यिक भाषा हो गई। नवीं शती में रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' में संस्कृत प्राकृत, मागधी, पिशाच भाषा और शौरसेनी के अतिरिक्त देश-विदेश की विभिन्न भेदोंवाली अपभ्रंश$ इन ६ भाषाओं का उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश सारे देश की भाषा थी, तभी उसमें प्रान्तीय भेद वर्तमान थे। राजशेखर ने अपने 'काव्य मीमांसा' में देश में प्रचलित साहित्यिक भाषाओं के बीच अपभ्रंश के स्थान का उल्लेख किया है। उसके अनुसार काव्य में प्रयुक्त होनेवाली विभिन्न भाषाए 'काव्य पुरुष' के विभिन्न अंग हैं।—

+ तदेतवाङमयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥

१ संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः॥
आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्॥
संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं संधिकादिकम्।
आसारादीन्यपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम्॥

$ भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति॥
प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥

'संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहु जघनमपभ्रंशं पैशाचपादौ उरोमिश्रम्॥"

इसी प्रकार काव्य-विशेषता के अनुसार कवि-दरबार में कवियों के स्थान भी निश्चित हैं—

"उत्तर में संस्कृत कवि, पूर्व में प्राकृत कवि, पश्चिम में अपभ्रंश कवि और दक्षिण में पैशाच कवि।" †

क्योंकि प्रत्येक प्रान्त के कवियों की रुचि विशेष प्रकार की भाषा में अधिक होती थी और अपनी रुचि ही के अनुसार भाषा में काव्य रचना करते थे—

"गौडादि देशों के कवि संस्कृत में रुचि रखते हैं। लाट देश के कवि प्राकृत में। मरु, टक्क और भादानक के सकल कवि अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं। अवन्ति (मध्य मालवा) परियात्रा (पश्चिमी विन्ध्याचल प्रान्त) दशपुर (उत्तरीय मालवा) भूतभाषा (पैशाची) का। जो कवि मध्य देश के मध्य में निवास करता है वह सर्वभाषा निपण्ण होता है। ‡

इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल पश्चिम में ही अपभ्रंश भाषा का प्रयोग होता हो। राजशेखर का तात्पर्य केवल इतना ही है कि अमुक प्रदेश के कवि अमुक भाषा में काव्य रचना में रुचि रखते हैं। सौराष्ट्र त्रवण आदि देश बड़े सौष्ठव के साथ संस्कृत बोलते हैं, परन्तु उस में अपभ्रंश का अंश अवश्य रहता है।* इस से स्पष्ट है कि बोलचाल की भाषा अपभ्रंश थी और पश्चिमीय देशों के अपभ्रंश कवि प्रसिद्ध थे। अपभ्रंश जन सामान्य की भाषा थी, यह उसके इस वाक्य से निकाला जा सकता है—

"परिचारक वर्ग अपभ्रंश में प्रवीण होने चाहियें, परिचारिकाओं को मागधी, अन्तःपुर के विदुओं को संस्कृत तथा प्राकृत और मित्रों को सर्व भाषा-विद् होना चाहिये।"+

---

† तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन्। पूर्वेण प्राकृताः कवयः। पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः। दक्षिणतो भूतभाषा कवयः।

‡ गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादनकाश्च।
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति सकविः सर्वभाषानिषण्णः॥"

* सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि॥

+ अपभ्रंशभाषाप्रवणः परिचारकवर्गः समागधभाषाभिनिवेशिन्यः परिचारिकाः
प्राकृतसंस्कृतभाषाविद आन्तःपुरिका मित्राणि चास्य सर्वभाषाविन्दि भवेयुः॥

परिचारक वर्ग जन सामान्य में से होते हैं, जिनकी भाषा अपभ्रंश थी। अतः नाटक में परिचारक का कार्य करने वालों को अपभ्रंश का ज्ञान होना जितना आवश्यक है, उतना संस्कृतका पंडित होना नहीं। इसके अतिरिक्त सामान्य जनता और राजा के बीच बातचीत परिचारकों द्वारा होती थी और जब सामान्य जनता अपभ्रंश बोलती हो तो परिचारक वर्ग को भी अपभ्रंश जानना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त संस्कृत की सीमा तो पंडितों तक और प्राकृत की सीमा कुछ विशेष प्रकार के कलाकारों तक ही थी। अर्थात् विद्वान संस्कृत के द्वारा अपना पांडित्य प्रदर्शन करते थे और कलाकार प्राकृत के द्वारा अपना रचना-चमत्कार प्रकट करते थे। केवल जन सामान्य में अपभ्रंश के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा का प्रचार नहीं था— इसीलिये उसने विभिन्न भाषा से परिचय रखनेवालों के विभिन्न समुदायों का वर्णन इस प्रकार किया है —

"संस्कृत कवियों के पास वेदविद्याविद्, प्रामाणिक (तर्कविद्) पौराणिक, स्मार्त (स्मृतिविद्), भिषज ज्योतिषी आदि···। प्राकृत कवियों के पास नट नर्तक, गायक, वादक, वाग्विद, ताल-कुशलचर आदि जीविका कमाने वाले··। अपभ्रंश कवियों के पास चित्रलेप्यक, माणिक्यबन्धक (जड़िये), वैकटिक (जोहरी), स्वर्णकार, वर्द्धक (सुथार), लोहकार आदि···।···भूतभाषा के कवियों के पास गणिकादि (साजिंदे) प्लवक (रस्सी पर नाचनेवाले नट), शौभिक (ऐन्द्रजालिक) जम्भक (?), मल्ल, शस्त्र पर जीवोपार्जन करने वाले आदि ।*

रुद्रट के 'काव्यालंकार' पर नमिसाधु ने विक्रम संवत् ११२५ (१०६८ ख्रिस्ताब्द) में अपनी टीका समाप्त की। उसमें उसका कथन है —

"अपभ्रंश भी प्राकृत ही है। इसके तीन भेद कहे गये हैं-उपनागर, आभीर और ग्राम्य। (परन्तु) देश विशेषानुसार और भी कई भेद हैं और

---

* तत.परं वेदविद्याविद: प्रामाणिका. पौराणिका स्मार्ता भिषजो मौहूर्तिका अन्येपि तथाविधा। पूर्वेण प्राकृता कवय:। तत:परं नटनर्तकगायनवादक-वाग्जीवनकुशीलवतालचरा अन्येपि तथाविधा:। पश्चिमेनापभ्रंशिन कवय:। तत परं चित्रलेप्यकृतो माणिक्यबन्धका वैकटिका. स्वर्णकार वर्द्धकिलोहकारा अन्येऽपि तथा विधा।

दक्षिणातो भूतभाषा कवय:। तत पर भुजङ्गणिका. प्लवक शौभिकजम्भ-कमल्ला. शस्त्रोपजीविनोऽन्योपि तथा विधा.।

उसके लक्षणों को सम्यक् रूप से जन सामान्य से ही समझना चाहिये।" †

यहाँ अपभ्रंश के विषय मे जो कहा गया है, वह यह है कि (१) अपभ्रंश भी एक प्रकार का प्राकृत है, (२) उसके पूर्व अन्य लोगों ने अपभ्रंश के भेद बतलाए हैं वे तीन हैं-उपनागर, आभीर और ग्राम्य (३) परन्तु उसके अनुसार और भी भेद हैं (४) उसके समझने के लिये जनता ही एक साधन है। नमिसाधु का यह उल्लेख बहुत महत्वपूर्ण है। उसने अपभ्रंश को 'लोकभाषा' होने के कारण ही प्राकृत माना है। अपभ्रंश एक ही 'लोकभाषा' थी, जिसके तीन भेद पहले से माने गये थे और उसमें उसके कई भेद देशविशेषानुसार बतलाए हैं। अपभ्रंश जब कोई एक भाषा थी, तभी तो उसके भेद या विभेद माने गये हैं। जब उपनागर जैसा भेद अपभ्रंश का उस समय वर्तमान था तो उसका नागर रूप अवश्य रहा होगा। सम्भवतया यह नागर अपभ्रंश प्रधान अपभ्रंश हो और इसीलिये उसका नाम न देकर उपनागर का नाम दिया हो। ग्राम्या उपनागर अपभ्रंश का ही ग्राम्यरूप होगा और आभीरों मे आभीरो की कुछ अपनी उच्चारण सम्बन्धी विशेषताए होंगी, जिसके कारण वह ग्राम्या तथा उपनागर से भिन्न रही हो। इसके अतिरिक्त ये भेद एक प्रान्तीय नहीं सार्वदेशिक थे। नागर से अर्थ नगर मे अथवा अत्यन्त विद्वद् समाज मे बोली जानेवाली उपनागर, सामान्यवर्ग अथवा नगर और ग्राम्य के बीच लेन-देन, व्यापार वणिज आदि से बोली जानेवाली तथा ग्राम्या गावों मे बोली जाने वाली-अर्थात् ये सब एक ही भाषा के रूप हैं। आभीर भी उस समय तक देश मे सब ओर फैले हुए थे, अत उसमे केवल कुछ जातीय विशेषताएँ रही होंगी जो इन अन्य भेदो मे न रही हो। यह अपभ्रंश से भिन्न भी नहीं थी और इसका विस्तार भी मगध तक था।

"आभीरी भाषापभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।" *

पूर्व में अपभ्रंश भाषा के अस्तित्व का प्रमाण नैपाल पुस्तकालय में वर्तमान है और उसका सम्पादन श्री प्रबोधचन्द्र बागची ने किया है। यह है सरहपा, तिल्लोपा और कण्हपा का दोहाकोष, जिनका संग्रहकाल नैपाल संवत् २२१

---

†, तथा प्राकृतमेवापभ्रंश सचान्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्। तस्य च लक्षणंलोकादेव सम्यगवसेयम्।

* नमिसाधु के लगभग १५०-२०० वर्ष पूर्व रचित 'दशरूप' (२,४२) में आभीरों को मागधी बोलनवालों में माना गया है। अत आभीरों का मगध तक का बसना सिद्ध है फिर उनकी भाषा का वह प्रभाव होना आवश्यक है और उसके प्रमाण भी ऊपर दिये गये है।

(वि० सं० ११५७ या ११०० खिस्ताब्द) है जो नमिसाधु की टीका के २४ वां बाद आता है – तीन उदाहरण यहां दिये जाते हैं–

(१) किन्तह दीयं किन्तह गोविन्दं
किन्तह किज्जइ मन्तह सेवन ॥ १४ ॥
किन्तह तित्थ तपोवण जाइ
मोक्ख, कि लब्भइ पाणी न्हाइ ॥ १५ ॥ सरह पादीय दोहा ॥

(२) जहि इच्छइ तहि जाउ मण, एत्थु ण किज्जइ भन्ति ।
अध उघाडिय आलोअणेण, स्फुणि होइ ने थित्ति ॥ ३५ ॥ तिल्लोपादस्य दोहा ॥

(३) आगम-वेअ-पुराणेँ पण्डिआ माण वहन्ति ।
पक्क सिरिफले अलिअ जिम बाहेरिअ भमन्ति ॥ २ ॥ काण्हपादस्य
दोहा कोषः ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि दशवीं शती तक अपभ्रंश के विषय में महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य हमें प्राप्त होते हैं परन्तु ऐसी महत्वपूर्ण भाषा और उसके साहित्य का बहुत कम अंश हमें प्राप्त होता है। पिछले वर्षों की खोज ने वास्तव में हमें अपभ्रंश साहित्य का बहुत अच्छा परिचय कराया है, परन्तु यह साहित्य पीछे का है, जिसमें आधुनिक भाषाओं और विशेषकर राजस्थानी का बीज रूप प्राप्त होता है क्योंकि यह साहित्य शौरसेनी अपभ्रंश का है।

[३] प्राचीन भारतीय रंगमंच

[श्रीयुत देवीलाल सामर एम ए]

हमारा प्राचीन रगमञ्च राष्ट्र की विविध सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का प्रतीक था। वह अभिनेताओं, सगीतज्ञों नर्तकों, साहित्यकारों और कवियों का सामान्य लोकमच था। जहां विविध कलाओं का एक पेजेन्ट के रूप में समन्वय उपस्थित किया जाता था। आज की तरह उस समय के रगमच को विविध प्रवृत्तियों का विभाजीकरण नहीं हुआ था। उसमें राष्ट्र का जीवन निहित था। उसके द्वारा राष्ट्र की विविध कलात्मक और सांस्कृतिक धाराओंका मार्ग प्रदर्शन होता था। राजासे लेकर रक और ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक उस रगमच से जीवन की विविध प्रेरणाए ग्रहण करता था और उसके द्वारा उनकी सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विचारधाराओं का निर्धारण होता था।

भारतीय नाटक के अकुर प्राचीन भारतीय धार्मिक और सामाजिक कृत्यांमे, वैदिक ऋचाओं के सवादों, गीतों और मुद्राओं मे परिलक्षित होते हैं। ऋचाओं के गानमें सगीत और उसके साथ आंगिक मुद्राओं के प्रयोग को हमारे नाट्य का प्रारभिक प्रयोग समझना चाहिये। उसके बाद सामाजिक पर्वों और ऋतुत्सवों के समय तालबद्ध उछलकूद आन्तरिक आनद को आंगिक अभिव्यक्ति थी और वही धीरे धीरे व्यवस्थित नृत्यों, भावाभिनयों और कथोपकथन-युक्त नाट्यों मे परिवर्तित हुई। धीरे धीरे नाट्य के ये प्रारभिक प्रयोग मानव के विकास के साथ परिष्कृत और उन्नत होते गये।

इसके साथ ही मनोरजन के अनेक साधन मानवकी आवश्यकताओं के अनुसार खोजे गये, जिनमें कठपुतली का नाच विशेष उल्लेखनीय है। इसका महत्त्व इसीलिए अधिक समझा जाता है कि प्राचीन नाट्य का उद्गम इन्हीं पुतलियों से हुआ, ऐसा माना जाता है। यह कहा जा सकता है कि रगमच के मानवी नाटकों की यह सीधी नकल है, परन्तु बात यह नहीं है। रगमच के

नाटकों की सृष्टि के पूर्व ही कई प्राचीन ग्रंथों में कठपुतली के नाच का उल्लेख मिलता है। 'वृहत्कथा' में मायासुर की कठपुतली के नाचने का सुन्दर वर्णन है। इसी प्रकार महाभारत में भी उत्तरा के पास एक नाचती, चलती-फिरती कठपुतली का उल्लेख है। कठपुतलियों का संचालक अनेक सूत्रों के डालकर अपनी उंगलियों में धारण कर कठपुतलियों को जिस खूबी से नचाता, उछालता और दौड़ाता है, वह विशेष महत्व की चीज है। आज भी जिस विकृत रूप में हम कठपुतलियों का नाच राजस्थान दक्षिणी पञ्जाब और कुछ प्रान्त में देखते हैं उससे इन सूत्रधारों के चातुर्य का पता लगा सकते हैं। संस्कृत नाटकों का प्रारंभ सूत्रधार, नट-नटी आदि पात्रों से होना यही संकेत करता है कि इन्हीं कठपुतलियों के नाच की प्रेरणा से ये नाटक संभवतः लिखे गये। कठपुतलियों का सूत्रधार पुतलियों का सञ्चालन करता है और नाटकों का सूत्रधार नाट्य का। अब देखना यह है कि ये नाटक हमारे देशमें कबसे शुरु हुए, इनका ऐतिहासिक प्रमाण कबसे मिलता रहा और अश्वघोष, भास, शूद्रक विशाखदत्त, कालिदास, हर्ष आदि इतिहास प्रसिद्ध नाटककारों के पूर्व हमारे देश में नाट्य की क्या अवस्था थी। विश्वस्त प्रमाण तो लिखित इतिहासों से ही प्राप्त हो सकता है, परन्तु जहां इतिहास उपलब्ध नहीं होते वहां परोक्ष साधनों से ही कुछ पता लगाया जा सकता है। नाट्य का जो सब से अधिक प्रामाणिक ग्रंथ मिलता है वह है भरत मुनि का नाट्य शास्त्र। जो नाट्य शास्त्र आज क्षत विक्षत अवस्था में मिलता है वह प्राचीन नाट्य शास्त्र ही है या उसका रूपान्तर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें बाद के कई विद्वानों ने अनेक अंश जोड़े और घटाये। भरत मुनि स्वयं ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं या नहीं यह भी एक विवादग्रस्त प्रश्न है क्योंकि नाट्य शास्त्र के अनुसार भरत ने नाट्य का समस्त ज्ञान ब्रह्म से प्राप्त करके शिवके सम्मुख उसे प्रदर्शित किया और फिर शिवके आदेशानुसार तन्डु से नाट्य की उच्च शिक्षा प्राप्त की। इन सब अलौकिक बातों से भरत मुनि का अस्तित्व संदिग्ध हो जाता है। परन्तु भरत का अस्तित्व रहा हो या नहीं नाट्य शास्त्र नामक ग्रंथ अवश्य रहा है। इसका समय अभी पूर्ण रूप से निश्चित नहीं, परन्तु ईसा के ३०० और ५०० वर्ष पूर्व यह ग्रंथ लिखा गया। यह नाट्य के कई ग्रंथों का लक्षण ग्रंथ है, जिससे यही सिद्ध होता है कि इसके पूर्व हमारे देश में नाट्य के ग्रंथ रहे होंगे। वैसे इसके पूर्व के कुछ नाट्य-ग्रंथों का उल्लेख भी मिलता है। उनमें शिलालिन का "नटसूत्र" और नन्दीकेश्वर का "भारतार्नव" विशेष उल्लेखनीय है। इन दोनों के केवल नामोंका उल्लेख मिलता है परन्तु पुस्तकें नहीं मिलती।

नाट्य शास्त्र में उच्च कोटिके नाट्य तंत्र (Technique) का उल्लेख है। प्राचीन भारतीय रंगमंच, जैसा प्रारंभ में उल्लेख किया गया है, केवल अभि-

नय का ही क्रीडास्थल नहीं था। अभिनय के अन्तर्गत नाट्य, नृत्त, नृत्य, संगीत और काव्य भी थे। अतः संगीतज्ञों नृत्यकारों, अभिनेताओं और स्थापत्य कला विशेषज्ञों के लिये नाट्य शास्त्र आज भी प्रमाणिक ग्रंथ माना जाता है। नाट्य शास्त्र की प्रणाली के अनुकूल आज भी दक्षिण भारत में भरत नाट्य की सुन्दर नृत्य-शैली विद्यमान है। दक्षिण भारत के अनेक मंदिरों में नाट्य शास्त्र के अनुकूल मूर्तियां खुदी हुई हैं। नाट्य शास्त्र में नृत्योपयोगी शरीर के विविध अंगोपांगों की मुद्राओं और भावभंगियों का विशद और वैज्ञानिक विवेचन है। उसमें नाटक की वस्तु, कथानक, पात्र, नायक आदि के भेद उपभेदों का विस्तृत वर्णन है अभिनय की रीतियां और विधियां दर्शाई गई हैं और अंग संचालन, वेशभूषा भाव, रस आदि का गूढ़ विवेचन है। निश्चय ही वह हमारे देश का गौरव ग्रंथ है।

नाट्य शास्त्र के अनुकूल अनेक नाटक लिखे और खेले गये। नाटक दृश्य काव्य है, श्रव्य काव्य नहीं इस हेतु को सामने रख कर संस्कृत नाटककारों ने अनेक सुन्दर नाटकों की रचना की। उस समय का रंगमंच वास्तव में एक उन्नत राष्ट्र का एक उन्नत रंगमंच था। राष्ट्र की आत्मा का सच्चा प्रतीक था। आज के इस विज्ञान-युग में नेत्रों को चौंधिया देने वाली अनेक वस्तुओं के आकस्मिक आगमन और गमन को देखने का अभ्यस्त मानव भी आज प्राचीन रंगमंच की इन सूक्ष्म प्रणालियों को देखकर चकित होजाता है। रंगमंच सम्बन्धी कोई भी बात तो उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हुई। प्राचीन रस विवेचन, नायक नायिका भेद और आंगिक मुद्राओं का शास्त्र देखकर ही हम पता लगा सकते हैं कि हमारे नाट्यकार मानवी विज्ञान के कितने ऊंचे ज्ञाता थे। इन सब का उल्लेख इस लेख में विस्तार के भय से नहीं किया जारहा है। परन्तु प्राचीन प्रेक्षागृह का यहां संक्षिप्त वर्णन करना आवश्यक है। कई शताब्दियों तक भरत नाट्य-शास्त्र के अनुकूल हमारे देश में प्रेक्षा गृहों का निर्माण होता रहा। ये सम्पूर्ण रूपसे वैज्ञानिक और अभिनयानुकूल थे। उन में दर्शकों की सुविधा रंगमंच की स्थिति, पोशाक गृह, ध्वनि-विस्तार आदि की पूरी व्यवस्था थी। उस समय तीन प्रकार के प्रेक्षा गृह प्रचलित थे —

(१) चतुरस्र— जिसकी लंबाई और चौड़ाई १०० हाथ होती थी।
(२) विकृष्ट जिसकी चौड़ाई ३२ हाथ और लंबाई ६४ हाथ होती थी।
(३) त्र्यस्र— यह त्रिकोणाकार होता था।

इन में विकृष्ट प्रेक्षा गृह का ही सबसे अधिक चलन था। विकृष्ट प्रेक्षा गृह के चार भाग हुआ करते थे। नेपथ्य, रंगशीर्ष, रंगपीठ और सोपानाकार। नेपथ्य में अभिनेता पोशाकादी बदला करते थे। रंगशीर्ष में विविध दृश्यों के लिए परदे तथा अन्य सामग्री रहती थी। रंग पीठ मुख्य अभिनय के लिए

नियत रहता था और सोपानाकार में वर्ण के अनुसार दर्शकों के बैठने का प्रबन्ध होता था। भरत नाट्य शास्त्र के तीसरे अध्याय में प्रेक्षा गृहों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है। उसमें प्रेक्षा गृह के शिलान्यास की विधि तक दर्शाई है। ऐसे प्रेक्षा गृह विशेष कर राजमहलों में हुआ करते थे जहाँ सब का प्रवेश निशुल्क होता था। गांवों और शहरों में भी किसी सार्वजनिक स्थान में छोटे और साधारण प्रेक्षागृह जनता के मनोरंजनार्थ रहते थे। यात्राओं, मेलों तथा हाटों में ऐसे रंगमंच खुले मैदान में हुआ करते थे।

हमारे प्राचीन रंगमंच पर विविध दृश्यों के प्रदर्शन में १५वीं शताब्दी के शेक्सपीरियन स्टेज की तरह प्रेक्षा गृह की पृष्ठभूमि पर जंगल के दृश्य की जगह "जंगल" और महल की जगह "महल" नहीं लिखा करते थे। ५०० वर्ष पूर्व के पाश्चात्य रंगमंच से कहीं अधिक हमारे ३००० वर्ष पूर्व के रंगमंच उन्नत थे। उनमें विविध दृश्यों के लिए उचित सामग्री रहती थी और जंगल पहाड़, वृक्ष, पौधे, आदि दर्शाने के लिए वास्तविक चीजें और चित्रादि का प्रबन्ध होता था। पात्रों को रंगमच पर लाने और लेजाने के लिए एक विशेष प्रकार का कलात्मक परदा रहता था, जिसे दो सुन्दर पोशाकधारी व्यक्ति दोनों छोर पकड़ कर लाते और लेजाते थे। आज भी दक्षिण भारत के प्राचीन शैली के अभिनयों में इसी प्रणाली का उपयोग किया जाता है। रंगपीठ में जहां अभिनेता आकर अभिनय करते थे एक परदा ऐसा रहता था जो प्रत्येक अंक के प्रारंभ और समाप्ति पर खुलता और बंद होता था। इसीको बाद में युनानी प्रभाव से यवनिका कहा जाता था।

भरत नाट्य शास्त्र के अनुसार हमारे प्राचीन रंगमंच की सजावट प्रेक्षागृह के रंग के अनुकूल तथा उसके साथ फबने वाली होती थी। समस्त रंगपीठ लकड़ी का बना हुआ होता था और उस पर विविध प्रकार के बेलबूंटे, कलश, पताका, पुतलियाँ आदि खुदी रहती थी। रंगमंच फिसलने वाला नहीं होता था और उसका अन्तिम छोर सफेद रंग से रंगा होता था, ताके अभिनेताओं को अपने अभिनय क्षेत्र की सीमा आसानी से मालूम हो सके। नाट्य शास्त्र में ऐसे रंगमंच के लिये खिड़कियों, जालियां, खंभों आदि का भी उल्लेख है और यह भी बतलाया है कि समस्त रंगपीठ को घुमाने फिराने के लिये यंत्र आदि भी रहा करते थे। रंगमंच पर प्रकाश आदि का अच्छा प्रबन्ध रहता था। प्रेक्षा गृह में प्रकाश के लिये कई स्थान नियत थे जहाँ विशालकाय प्रदीप जला करते थे उन में कई सेर सुगन्धित तैल भरा जाता था।

प्राचीन अभिनयों में भावों और रसों के अनुसार पोशाक का रंग निश्चित था। मुख शृंगार (Face make up) भावाभिव्यंजना के अनुसार होता

थी। विविध रसों के विशेष रंग नियत थे जिनकी पोशाक पहिनने से भावाभिव्यक्ति अधिक प्रभावशाली होती थी। विविध देवताओं, गंधर्वों तथा सात्विक, तामसिक और राजसिक वृत्ति वाले पात्रों के लिए भी विशिष्ट रंग नियत थे। केश-विन्यास का तो हमारे यहाँ अद्भुत तंत्र (Technique) था। नाट्य के सभी ग्रन्थों में केश-शृंगार का सुन्दर ढंग वर्णित है।

प्राचीन नाट्य शास्त्र के अनुसार अभिनय के चार अंग है (१) आंगिक (२) वाचिक (३) आहार्य (४) सात्विक। आंगिक में शरीर के विविध अंग, उपाङ्ग और प्रत्यंग का संचालन होता है। आंख, भौंहें, गर्दन, कंधे भुजाएं, हाथ, उंगलियां, कमर, पैर आदि घुमाने के विविध नियमों का अभिनय के समय अभिनेताओं को पालन करना पड़ता था। इसी प्रकार वाचिक के अन्तर्गत शब्दों के प्रयोग का भी वैज्ञानिक ढंग था, जो अंग-संचालन और भाव-प्रदर्शन के अनुकूल होता था। आहार्य अथवा पोशाक भी उसीके अनुकूल होती थी। सात्विक के अन्तर्गत भाव-प्रदर्शन की अपनी विशेष शैली थी। उसीके अनुसार पात्रों को अपना अभिनय करना पड़ता था। रस-विवेचन में प्राचीन शास्त्रकारों और अभिनेताओं ने जो कमाल किया है वह नाट्य के इतिहास में अभूतपूर्व है।

उपर्युक्त शास्त्रोक्त परंपराओं के अनुकूल कई संस्कृत के नाटक लिखे गये और खेले गये। कालिदास के पूर्व के नाट्य-लेखकों ने शास्त्रोक्त नियमों का काफी पालन किया, लेकिन बाद के लेखकों में परंपरा-भंग शनैः शनैः समय और स्थिति के अनुसार होता गया। लगभग १० वीं शताब्दी तक हमारे देश में उच्च कोटि के नाटक लिखे और खेले गये। कालिदास के पूर्व अश्वघोष, भास और शूद्रक हुए। अश्वघोष ने "शारिपुत्र" और शूद्रक ने "मृच्छकटिक" लिखा, परन्तु इनकी तिथियां अनिश्चित है। कालिदास ने "मालविकाग्निमित्र", "विक्रमोर्वशी", "अभिज्ञानशाकुन्तल" नाटक लिखे। ५ वीं शताब्दी में विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, ७वीं में हर्ष का "रत्नावली", ८ वीं में भवभूति का "महावीर चरित्र", "उत्तर रामचरित्र" और 'मालतीमाधव' ६ वीं में भट्टनारायण का "वेणीसंहार" १०वीं में राजशेखर का "कर्पूरमंजरी" "बाल रामायण" और "बाल भारत" ११वीं में दामोदर मिश्र का "हनुमन्नाटक" आदि लिखे गये। ये नाटक पांच अंकों, और सुखान्त हुआ करते थे। रस और अलंकार विवेचन की इनमें विशेष पद्धति थी। इनके बाद प्रायः कोई नाटक नहीं लिखा गया। वह समय संस्कृत भाषा के ह्रास का और प्रान्तीय भाषाओं के प्रचार का था। समस्त भारतवर्ष विदेशी आक्रमणों और राजनैतिक हलचलों से आक्रान्त था। उस समय मनोरंजन और आनन्द-उपभोग का वातावरण न था, अतः हमारा रंगमंच भी प्रायः मर ही सा गया। सहस्रों वर्षों की जो सुन्दर

नाट्य-परंपरा हमारे पूर्वजों ने हमें दी यह नष्ट हुई। अतः १३ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक कोई उल्लेखनीय नाटक हमारे देश में न लिखा गया और न खेला गया। वह समय मुस्लिम शासन का था; नृत्य-गान, अभिनय आदि इस्लाम के विरुद्ध होने से वे उनके शासन में पनप न सके। हमारा रंगमंच भी वर्षों संघर्ष के कारण म्रियमाण सा हो गया। पुनः १६ वीं शताब्दी में बाहरी प्रभाव से वह जगा परन्तु अत्यन्त विकृत और प्रारम्भिक रूप में। इसने अपनी प्राचीन सुन्दर परंपराओं को खो दिया और जो भी नाटक प्राचीन नाटकों के ढंग के लिखे और खेले गये वे अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी के थे।

---

[४] जैन साहित्य और चित्तौड़

[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा]

पुण्य-भूमि मेवाड़ और जैन समाज का प्राचीन काल से घनिष्ट सम्बन्ध चला आ रहा है। वैसे तो आघाट (आयड), करहेड़ा (करेडा), नागद्रह,(नागदा) चित्रकूट (चित्तौड), देलवाडा, केशरियाजी, कुंभलगढ, माण्डलगढ, बिजोलिया, जावर, उदयपुर आदि अनेक स्थानों से जैनों का महत्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है, किन्तु इन सबमें चित्तौड की प्राचीनता सबसे अधिक है और जैन धर्म का सबसे अधिक एवं प्राचीन सम्बन्ध * चित्तौड से रहा है। यथावकाश मेवाड के अन्य प्राचीन स्थानों के जैन-सम्बन्ध पर प्रकाश डालने के पूर्व चित्तौड से इस कार्य का प्रारंभ किया जा रहा है। इस प्रयत्न से मेवाड़ के इतिहास पर कुछ नया प्रकाश पड़ेगा और जैन समाज के लिये तो अत्यन्त महत्वपूर्ण जानकारी उपस्थित होगी।

सिद्धसेन दिवाकर —

जैन साहित्य के अनुसार प्रथम चित्तौड पर आने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर थे। ये जैन ग्रन्थानुसार यशस्वी भारत सम्राट विक्रमादित्य के प्रतिबोधक, प्रगाढ पण्डित और महान् दार्शनिक थे। आपके चित्तौड पधारने का प्रसङ्ग वि०स० १३३४ में प्रभाचन्द्र सूरि रचित 'प्रभावक चरित्र' एवं वि०स० १४०५ में दिल्ली में रचित राजशेखर सूरि के प्रबन्ध कोष में इस प्रकार पाया जाता है —

---

* इससे पूर्व केवल मध्यमिका (नगरी) का नाम उल्लेखनीय है जो चित्तौड़ के समीप ही है, पर यहां का सम्बन्ध अधिक काल तक नहीं रहा। मुनि जिनविजयजी ने भारतीय विद्या तृतीय खण्ड में इस स्थान पर थोड़ा प्रकाश डाला है।

"एक बार सिद्धसेन सूरि चित्तौड़ की ओर आये। वहां पहाड़ में एक स्थान में एक अद्भुत स्तम्भ [illegible] के लेप से [illegible] बना हुआ नहीं था। निरीक्षण करने पर वह [illegible] के लेप से निर्मित मालूम हुआ। कौतुहलवश सिद्धसेन सूरि ने उसकी गन्ध, स्पर्श की परीक्षा कर अपने असाधारण बुद्धिबल से उन औषधियों की विरोधी औषधियों द्वारा उसे घिसा तो स्तम्भ में एक छिद्र हो गया। उस छिद्र के स्तम्भ में रखे हुए पुस्तकों के विशाल संग्रह को देख कर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। आपने एक प्रति निकाल कर उसको पढ़ना आरम्भ किया तो प्रथम पंक्ति में सुवर्ण सिद्धि का प्रयोग और इसके पश्चात सरसों से घोड़े बनाने की विधि प्राप्त हुई, जिससे आप बड़े ही आनन्दित हुए। आगे का भाग पढ़ते समय शासन देव ने उसका दुरुपयोग होने की सम्भावना देख उस प्रति का हरण कर लिया।" उपरोक्त दोनों विद्याओं का प्रयोग सिद्धसेन ने कर्मार के राजा देवपाल की सहायता के लिये किया। उक्त राजा ने आपका अद्भुत प्रभाव देख कर आपको 'दिवाकर' पद से विभूषित किया। *

चित्रकूट उत्पत्ति —

साहित्य तपस्वी मुनि जिन विजयजी द्वारा सम्पादित पुरातन प्रबन्ध-संग्रह के पृष्ठ १०३ में 'चित्रकूटोत्पत्ति प्रबन्ध' छपा है। उसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है —

'कान्यकुब्ज देश की काशी नगरी में शशशेश राजा राज्य करता था। इधर शिवपुर में कई गावों का अधिपति चित्रांगद नामक राजा था। एक दिन उसकी सभा में कोई योगी आया। वह रोज आता पर राजा से नहीं बोलता था। छः माह बीतने पर राजा ने सेवा का कारण पूछा। उसने कहा 'राजन! मेरे गुरु की दी हुई विद्या है उसकी पहली सेवा होगई पिछली सेवा बाकी है। वह ३२ लक्षण वाले तुम्हारे बिना नहीं हो सकती।' राजा ने बात मानली। उसने कहा—'देव्यष्टमी के दिन तुम हाथ में तलवार लेकर कूटाद्रि पर आना।' राजा के हां करने पर वह चला गया। परदे के पीछे महारानी ने उपरोक्त बात सुन ली। उसने मन्त्री के आगे कहा। मन्त्री ने उत्तर दिया जब राजा जावे तब कहना। राजा सन्ध्या को सिर दुखने के बहाने रानी को छोड़ कर जब चला तब रानी ने मन्त्री को सूचना दी। वह पीछे २ चला। राजा पहाड़

* मुनि जिन विजयजी, द्वारा सम्पादित 'प्रभावक चरित्र' पृष्ठ ५८ और प्रबन्ध-कोष पृष्ठ १६

के आगे पहुंचा और योगी से मिला। योगी राजा को अग्नि कुण्ड के पास छोड़ कर स्नान को गया। मन्त्री ने प्रगट होकर राजा से कहा — 'महाराज। यह कपटी है आपको मार कर स्वर्ण-पुरुष बनावेगा इसलिये चल।' राजा ने कहा- मेरो बात नहीं जानी' चाहिये।' मन्त्री ने कहा जब वह कहे फेरी दो तब आप कहें स नहीं जानता - आप आगे होकर बतलादें।' यह कह कर मन्त्री पेड़ में छिप गया। योगी आ गया उसने ध्यान प्रारंभ किया। अग्नि कुण्ड को प्र ीप्त किया। राजा से कहा ' फेरियां (परिक्रमाय) दो।' राजा ने कहा- आपही मुझे बताइये मे नहीं जानता।' वह उठा और फेरी देने लगा। दोनों शीघ्र ही दौड़ने लगे। योगी ने राजा को अग्नि की ओर चलाया तब मन्त्रीने और राजा ने उसे अग्नि मे फेंक दिया। वह स्वर्ण-पुरुष हो गया। दोनों उसे लेकर घर आये। उसके प्रभाव से धन हुआ। उसके पश्चात नगर बसाने के स्थान की देखभाल करता हुआ वह पहाड़ पर चला। यहां दिन मे जितना दुर्ग बनता उतना रात मे गिर पड़ता। पूजा करने पर वहाँ का व्यतर (विघ्न देवता) सन्तुष्ट हुआ। उसने कहा म नगर का भार नहीं सह सकता अब दूसरा स्थान देखो। वहां जल आदि पूर्ण करूंगा। पीछे पर्वत पर दूसरी जगह नगर बसाना प्रारंभ किया ' चित्तउड ' (चित्रकूट) यह नाम दिया। वास हो जाने पर ऊपर लोग नहीं समाते। पीछे राजा ने कहा कोड़ीध्वज (करोड़ पति) बीच में रहें। लक्षपति बाहर रहें। इस प्रकार करोड़पतियों के हजार घर हुए।

ऐसे नगर के बन जाने पर काशी के राजा शमलीश ने दुर्ग को घेर लिया। उसने स्वर्ण-पुरुष को मांगा। युद्ध के बारह वर्ष बीत जाने पर राजा ने घास सिर पर रख कर अपने आ मी भेजे-मध्यस्त स्वरूप (?) लेने के लिये। जब वे घास लिये हुए मनुष्य मन्त्री के घर के नीचे खड़े थे तब गोखे मे बैठी मन्त्री की लड़की ने पिता से कहा। हे पिता! पहाड़ के नीचे ये वणिक इतने दिनों से क्यों खड़े किये ये हैं। कर लेकर विदा क्यों नहीं किये जाते। उसने मुस्कुरा कर कहा। शत्रु का आक्रमण समझ कर मैने तुझे दुर्ग के बीच मे रख दिया। तेरे पुत्र भी हो गया। पर यह (शत्रु) नहीं जाता। यह बात सुन कर उन्होंने राजा शमलीश से कही। वह निराश हो कर चलने लगा। अपनी सेना भेजी तब वह दुर्ग को देखता हुआ जाने लगा तब गोखे मे बैठी चाकरी वैश्या ने यह सूक्ति कही —

'क्या षट्पद मेरु के शिखर पर चढ़ सकता है।
क्या
बुद्धिमान हो सकने वाली बातों मे परिश्रम करते हैं।
हे शमलीश। दुर्ग को लेने का गेलापन छोड़ दे।'

राजा ने कहा ऐसा उपाय करो जिससे दुर्ग को ले लूं। उसने कहा सेना तैयार करो। यहां का राजा मध्याह्न के समय तीनों पोलों (द्वारों) को खोल कर दान दिया

करता हूँ। जब मैं स्नान करके केश खोलूं तब पहुँचना। संकेत मिलने पर द्रुत भेज दिया। चित्राङ्गद स्वर्णपुरुष को बांध कर वापिस ले गया। राजा ने उसे खुदवाया तब आज्ञा हुई रुक जा नहीं तो सेनाको मार डालेगा। तब वह राजा चित्राङ्गदके पुत्र को राज्य-गद्दीपर बैठा कर अपने नगर को चला गया।

हरिभद्र सूरि –

श्रद्धेय सिद्धसेन दिवाकर के पश्चात् चित्रकूट के यशस्वी जैनाचार्य हरिभद्र सूरिजी का उल्लेख पाया जाता है। आप यहीं के निवासी ज्योतिर्धर एवं युगप्रवर्तक विद्वान् थे। मेवाड़ की भूमि चित्तौड़ इस महामना महात्मा को जन्म देकर गौरवान्वित हुई है। कहा जाता है कि इन्होंने १४४० ग्रंथ बनाये थे जिनमें से कितने ही ग्रंथ हमारी उपेक्षा से नष्ट हो चुके हैं और अब तो केवल ८० के लगभग ग्रंथ ही प्राप्य हैं। अपने 'धूर्ताख्यान' ग्रंथ की प्रशस्ति के अन्त में आचार्य श्री ने चित्तौड़ का निर्देश इस प्रकार किया है –

'चित्तउड दुग्ग सिरि संठिएहिं सम्मत्त राय रत्तेहिं।
सुचरिअ समूह सहिआ, कहिआ एस्स कहावत्था ॥ १२२ ॥
सम्मत्त सुद्धि हेउ चरिअ, हरिभद्द सूरिया रइओ।
निसुणंत कहंताणं भव विरहं कुणउ सत्ताणं ॥ १२३ ॥'

प्रस्तुत ग्रंथ के सुसम्पादन का श्रेय मुनि जिनविजयजी को है। आचार्य प्रवर हरिभद्र सूरिजी का समय कई शताब्दियों से विवादास्पद था जिसका अन्तिम निर्णय भी मुनि जिनविजयजी द्वारा हुआ है। आपने अनेक अकाट्य प्रमाणों द्वारा हरिभद्रसूरिजी का समय वि० सं० ७५७ से ८२७ का निर्धारित किया है और प्रायः वह सभी को मान्य हो चुका है।

सं० १३३४ में प्रभाचन्द्र सूरि रचित प्रभावक चरित्र के अनुसार हरिभद्र सूरि चित्तौड़* के राजा जितारि के पुरोहित थे। ब्राह्मण होने के नाते आप प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपने गर्व से मन में यह धारणा बनाली थी कि विश्व में कोई भी शास्त्र एवं विद्या मुझसे अज्ञेय नहीं है। यदि कोई मुझे अज्ञेय बता सके तो मैं उसका शिष्य होने के लिये उद्यत हूँ। एक दिन आपकी परीक्षा का अवसर उपलब्ध हो गया। प्रसंग ऐसा बना कि आप एक दिन जैन उपाश्रय के पास से निकल रहे थे कि उपाश्रय में जैन साध्वी के मुख से आपके सुनने में निम्नोक्त गाथा आई —

चक्कि दुगं हरि पणगं पणगं चक्कीण केशवो चक्कीत।
केसव चक्की केसव दुचक्कि केसीअ चक्कीअ ॥

---

* भद्रेश्वर सूरि के कथावलि ग्रन्थ के अनुसार आप पिवंगुइ के निवासी थे। आपके पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गंगा था।

आपने इसका भावार्थ समझने को बहुत विचारणा की पर इसका अर्थ आप नहीं समझ सके अत उपाश्रय मे जाकर पूज्या साध्वी से पूछा कि इस गाथा का अर्थ मेरी समझ मे नहीं आया अत कृपाकर बतलावें। आर्या ने उत्तर दिया कि इसका अर्थ जानना है तो हमारे आचार्य श्री जिनदत्त † के पास जाओ। उनके निर्देशानुसार वे आचार्य के पास गये और इस गाथा का अर्थ पूछा एव अर्थ जानने पर अपनी पूर्व धारणानुसार उनके शिष्य होगये। वैदिक सहित्य मे आपकी पूरी पहुच थी ही अब जन दर्शन के भी आप ज्ञाता हो गये।

आपके भगिनी पुत्र हंस और परमहंस ❋ भी बड़े मेधासंपन्न थे। उन्होंने आपसे दीक्षा ग्रहण कर जैन शास्त्रों का अध्ययन किया। उस समय बौद्ध न्याय की बड़ी प्रसिद्धि थी, उसके अध्ययन के बिना पाण्डित्य अधूरा समझा जाता था अत इन्होंने बौद्ध न्याय का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करने के लिये बौद्ध विद्यापीठ मे जानेकी आप से अनुमति मागी। आपने उन्हें जानेसे वर्जित किया पर भवितव्यता वश उनके वह बात गले नहीं उतरी और वे विद्यापीठ मे चले गये एव बौद्ध वेश धारण कर अध्ययन करने लगे। अध्ययन करने के साथ साथ वे जैन दर्शन के अनुसार बौद्धों के न्याय, तर्क सम्बन्धी युक्तियों के खण्डन के नोट भी करते जाते थे। दैववशात् उनके वे नोट बौद्ध गुरु के अवलोकन मे आगये। उन्होंने उनके जैन होने की सभावना की और परीक्षा करके उनको मारने पर उतारू हो गये। हस और परमहस वहां से भाग छूटे पर बौद्ध गुरू ने उनके पीछे राजा की एक फौज भेजदी। हस परमहस को गुरू के पास चले जाने को कह कर स्वय वीरतापूर्वक सामना कर वीरगति को प्राप्त हुआ। परमहस ने भागते दौड़ते राजा सूरपाल की शरण ली। अत में उसकी सभा में बौद्धों से उसका शास्त्रार्थ हुआ, परमहस की विजय हुई पर गुरू के पास पहुचते २ ही स्वर्गवासी हुआ।

अपने विद्वान् एव प्रिय आत्मीय शिष्यों के इस प्रकार स्वर्गवासी होने से हरिभद्रसूरिजी को बड़ा रोष उत्पन्न हुआ। बौद्धों से इसके लिये बदला लेने के विषय में कहा जाता है कि आपने १४४४ बौद्धों को मारने का सकल्प किया था पर गुरुश्री के समझाने पर उससे निवर्तित हुए और उस विचार के प्रायश्चित स्वरूप एव शिष्य स्मृति रूप १४४४ प्रकरण ग्रन्थ बनाये।

आचार्य हरिभद्रसूरिजी के समय में जैन मुनि चैत्यों (जिन मदिरों) मे रहने लगे थे और उनका आचार विचार बहुत शिथिल हो चुका था। आपने सबोध प्रकरण में चैत्य वासियों को बड़े आड़े हाथों लिया है।

---

† कथावलि के अनुसार जिनदत्त और प्रभावक चरित्र के अनुसार जिनभट।

❋ कथावलि के अनुसार इनका नाम जिनभद्र और वीरभद्र था जो सभवत हस और परमहस के दीक्षांत नाम थे।

अपने समय के ही नहीं भारतीय दार्शनिक परंपरा के आप असाधारण विद्वान् थे। जैनागमों पर सबसे पहले संस्कृत टीकाकार भी आप ही हैं एवं जैनेतर ग्रन्थों पर जैन टीका बनाने का कार्य भी आपने ही सर्व प्रथम प्रारंभ किया था। आपकी समराइच्चकहा, षट्दर्शन समुच्चय, अनेकान्त जयपताका, शास्त्र वार्ता समुच्चय, योग बिन्दु, योग दृष्टि समुच्चय आदि भारतीय साहित्य की अमूल्य निधियां हैं। जैन दर्शन का निरूपण करते समय आपने जैनेतर विद्वानों को भी बड़े आदर सूचक विशेषणों से सम्बोधित किया है। आपका सर्व दर्शन समभाव, समन्वयशीलता और उदारता विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सं० ८३४ में उद्योतन सूरि ने अपने कुवलयमाला नामक महत्वपूर्ण कथा में आचार्य हरिभद्रसूरिजी का स्मरण गुरु के रूप से किया है।*

यहां पर हरिभद्रसूरि का परिचय बहुत संक्षेप में दिया गया है अतः विशेष रूप से जानने के लिये निम्नलिखित ग्रन्थों एवं लेखों को देखना चाहिये।

१. भद्रेश्वर सूरि रचित कथावलि।
२. सं० १३३४ प्रभाचन्द्र सूरि रचित प्रभावक चरित्र और मुनि कल्याण विजयजी लिखित पर्यालोचन।
३. सं० १४०५ राजशेखर सूरि रचित प्रबन्ध कोष।
४. पुरातन प्रबन्ध संग्रह के पृष्ठ १०३ में प्रकाशित श्री हरिभद्र सूरि प्रबन्ध।
५. सं०१२९५ सुमतिगणि रचित गणधर सार्ध शतक वृहद्वृत्ति।
६. हरिभद्रसूरिजी का जीवन चरित्र — पं० हरगोविन्ददास।
७. हरिभद्राचार्यस्य समय निर्णय — मुनि जिनविजयजी (जैन साहित्य संशोधक)
८. हरिभद्रसूरि – पं० रसनलाल संघवी (अनेकान्त, वर्ष ३०)
९. जैन दर्शन (प्रस्तावना — पं० बेचरदासजी)
१०. धर्म संग्रहणी की संस्कृत प्रस्तावना — मुनि कल्याण विजय।
११. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास — मोहनलाल देसाई।
१२. समराइच्चकहा और तरिधान की प्रस्तावना में श्री जैकोबी का निबन्ध।
१३. जैनाचार्यो — मुनि न्याय विजय।
१४. हरिभद्रसूरि — ईश्वरलाल जैन।
१५. श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी — कनक विजय।

(क्रमशः)

---

* देखिये मुनि जिन विजयजी का कुवलयमाला शीर्षक निबन्ध (जैन साहित्य संशोधक खण्ड ३, भाग २)

[५] गुह और गुहिल

[श्रीयुत रोशनलाल सामर, बी ए, एल-एल बी, एडवोकेट]

'गुह' और 'गुहिल' भिन्न भिन्न व्यक्तियों के नाम हैं, या एक ही व्यक्ति के दोनों नाम हैं? यदि भिन्न भिन्न व्यक्तियों के नाम हैं तो मेवाड़ के महाराणाओं के मूल पुरुष 'गुह' हैं या 'गुहिल'? यह प्रश्न आज तक विवाद-ग्रस्त रहा है। राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने गुह और गुहिल एक ही पुरुष के दो नाम माने हैं और मेवाड़ के महाराणाओं का मूल पुरुष भी इसी को माना है। किन्तु श्री चिंतामणि वैद्य ने अपनी पुस्तक 'राजपूतों का आरम्भिक इतिहास' में गुह और गुहिल को भिन्न भिन्न पुरुष माने हैं। राजपूताने के इतिहास के पहिले और प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक कर्नल जेम्स टॉड को आहड़ से वि० सं० १०३४ का एक शिलालेख मिला था, उसमें मेवाड़ के राजाओं की वंशावली है जिसकी एक पंक्ति इस प्रकार है।

"जयति श्रीगुहदत्त प्रभव श्रीगुहिलवंशस्य॥"

इस शिलालेख के अतिरिक्त अन्य कोई प्राचीन शिलालेख या अन्य प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है कि जिससे इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ सके। उपर्युक्त शिलालेख की पंक्ति 'जयति श्रीगुहदत्त प्रभव श्रीगुहिलवंशस्य' से तो स्पष्ट है कि 'गुहिल' और 'गुह' दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। गुहिल वंश में गुहदत्त बड़े पराक्रमी होने से गुहिल वंश के प्रभव (उत्पादक) मान गये हैं। महाराजा गुहदत्त का समय ईस्वी सन् की छठी शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है और आहड़ का शिलालेख महाराजा गुहदत्त के चार सौ वर्ष पीछे का है अतः विश्वास के योग्य हो सकता है। फिर भी लेखकों में यह विवाद उपस्थित हुआ, इसका कारण सम्भवतया एक ही है कि मि० कार्लाइल को ई० सन् १८६९ के करीब दो हजार चांदी के सिक्के आगरे के आस पास मिले, उन पर 'गुहिल श्री' या 'श्रीगुहिल' प्राचीन पश्चिमी संस्कृत भाषा में लिखा हुआ था।

मि० कार्लाइल ने गुहिल के सिक्कों का चित्र नहीं दिया; परंतु जो कुछ इस सिक्के के लेख पर विवरण दिया है, उससे प्रकट है कि 'श्रीगुहिल' लेख गोलाकार में अंकित है। मि० कार्लाइल ने इन सिक्कों का मेवाड़ के गुहिल के होने का और उसको मेवाड़ के राजाओं का मूल पुरुष होने का संकेत किया है, जिससे पिछले लेखकों ने भी 'गुहिल' और 'गुह' को एक ही पुरुष मान कर इन सिक्कों को मेवाड़ के महाराणाओं के मूल पुरुष का मान लिया। राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने तो इन सिक्कों के आधार पर परम्परा की कथा को बदल कर गुहिल का उत्तर की तरफ से आना संभव बता दिया। इसके विपरीत आज तक यह धारणा रही है कि मेवाड़ के गुहिल सौराष्ट्र की तरफ से आये हैं। उनका पहले ईडर की पहाड़ियों में राज्य रहा और वहाँ से वे आकर नागदा की पहाड़ियों में रहे।

इस लेख के लेखक को सैकड़ों अन्य सिक्कों के साथ गुह के कुछ सिक्के अपनी निजी शोध से प्राप्त हुए हैं। सब तांबे के हैं। उनमें स्पष्टतया 'गुह' कुटिल तथा गुप्त लिपि में अंकित है। ये सिक्के सामान्य रूप से मेवाड़ में चलने वाले तांबे के पैसों में से प्राप्त हुए हैं जो सैकड़ों वर्षों से प्रचलन में चलते आये हैं। इन सिक्कों पर राजा के चेहरे के सामने गुप्त राजाओं के सिक्कों के अनुसार खड़ी लकीर में लेख अंकित है। आगरे से मिलने वाले सिक्के उपर्युक्त 'गुह' के सिक्कों से भिन्न प्रकार के हैं। मेवाड़ में आज तक आगरे के सिक्कों की शैली के कोई सिक्के प्राप्त नहीं हुए हैं। और न इस प्रकार के सिक्के अन्यत्र मिले हैं। मेवाड़ के प्राचीन सिक्के Indo-sassanian (ईरानी) शैली के ही मिलते हैं।

'गुह' शब्दांकित सिक्के मेवाड़ में मिलने से यह निश्चय हो जाता है कि वह मेवाड़ का 'गुह' नामक राजा था तथा गुह ही मेवाड़ का पहला राजा हुआ, जिसके वंशधर मेवाड़ के महाराणा हैं। इन सिक्कों से आहाड़ के उपरोक्त शिला लेख की संपूर्णतया पुष्टि होती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गुह' और 'गुहिल' भिन्न भिन्न व्यक्तियों के नाम हैं। 'गुहिल' 'गुह' से पूर्व हुआ और कालान्तर में उसके वंश में 'गुह' ने जन्म लिया।

[६] राजस्थान के " विसहर "

[श्रीयुत प० कन्हैयालाल सहल एम ए]

इस लेख के शीर्षक से भ्रम हो सकता है कि मैं राजस्थान के सर्पों के बारे में लिखने बैठा हूँ क्योंकि अपभ्रंश व्याकरण के नियमानुसार ष का ह हो जाता है जिससे विषधर (सर्प) के स्थान में विसहर' निष्पन्न होता है। सर्प के पर्याय के रूप में तो इस शब्द का प्रयोग आपने पढ़ा सुना होगा किन्तु आश्चर्य होगा आपको यह जान कर कि चारणी साहित्य में 'विसहर' उन छन्द-विशेषों के लिए प्रयुक्त होता है जिनमें किसी योद्धा के कायरता आदि अनुचित कार्यों के लिए, आश्रयदाता की अनुदारता, कृपणता एवं कृतघ्नता आदि अवगुणों के लिए उसकी भर्त्सना की जाती है। नीचे कुछ 'विसहरों' के उदाहरण दिए जाते हैं जो राजस्थान में प्रवाद के रूप में प्रचलित हैं।

[१]

राव मालदे ने जैतसी पर आक्रमण करने के लिए कूँपो और जैतो के साथ एक बड़ी सेना भेजी। इस पर जैतसी ने भी अपनी सेना इकट्ठी की और सोहवो गाँव में आक्रमणकारियों से मिलने के लिए रवाना हुए। शत्रुपक्ष के दूतों की ओर से वहाँ प्रस्ताव रखा गया कि तुम मालदे के पास जाओ और अपना नाक झुकाओ। बीकानेर के जो सरदार वहाँ उपस्थित थे उन्होंने इस शर्त को मंजूर कर लिया किन्तु महेश साँखलो जो १२ गाँवों का स्वामी था चुप रहा पर जैतसी ने जब उसकी राय जानने के लिये बहुत आग्रह किया तो उसने निर्भीकता से उत्तर दिया कि ऐसा करने से बीकानेर का गौरव मिट्टी में मिल जायगा। कायरता पूर्वक आत्म समर्पण कर देने की अपेक्षा वीरता से रणांगण में प्राण त्याग को मैं कहीं अधिक श्रेयस्कर समझता हूँ। जैतसी को तो यह बात पसन्द आई किन्तु कायर सरदारों के गले न उतरी। दूतों ने जाकर कूँपो और जैतो से कहा कि महेस साँखलो के कारण सुलह नहीं हो

पाई। इस पर शत्रुपक्ष के दोनों सेनापतियों ने महेश को पुकार कर पूछा कि तुम क्यों राठौड़ों का नाश करने पर तुले हो? उसने कहा—मैं तो वही करने की सलाह दे रहा हूँ जिससे बीकानेर की लाज रह जाय। अंत में युद्ध हुआ। बीकानेर के बहुत से सरदार पीठ दिखा कर भाग निकले किन्तु राव जैतसी वीरतापूर्वक लड़ते हुए इस युद्ध में खेत रहे।

बीकानेर के जिन कायर सरदारों ने युद्ध-क्षेत्र से पीठ दिखा कर अपने को कलंकित किया था, राजस्थान के चारण कवि ने निम्नलिखित 'विसहर' द्वारा उनके कलङ्क को भी अमिट कर दिया है—

गो रावत वटरंक
गयौ दूदौ उझाली
गो फालस हरराज
गयो लखमणियौ छाली
गयौ नूंच सांगलौ
............इत्यादि

अर्थात् बड़ी गरीबी दिखाने वाला रावत अपने प्राण लेकर भागा, और नीच दूदो भी युद्ध-भूमि में न टिक सका। फालस (पक्षी विशेष) का सा आचरण करने वाला हरराज, भेड़ की तरह कायरता दिखलाने वाला लखमणिया (लक्ष्मण का तुच्छता-प्रदर्शक रूप) तथा कंजूस सांगलो······ ये सब रणक्षेत्र से भाग निकले।

[२]

जोधपुर के महाराज विजयसिंहजी के पास जगोजी नामक एक राजपूत थे जिनके ऊपर महाराज की विशेष कृपा थी किन्तु एक बार जब वे युद्ध से भाग कर आगये तो महाराज उनसे नाराज होगये। किन्तु ६ महीने पीछे महाराज जगोजी के प्रति पूर्ववत् कृपालु होगये और आसोप नामक गाँव उनको दे दिया। जोधपुर के सभी सरदार मन ही मन नाराज हो रहे थे कि महाराज कैसे बेकदर हैं कि उन्होंने इस भगोड़ जगोजी को तो एक गाँव दे दिया किन्तु महेशसिंहजी के प्रति जिन्होंने सेना के अग्रभाग में लड़कर अपने प्राण दिये थे कोई उदारता नहीं दिखलाई। महाराज को चाहिये था कि वे महेशसिंहजी के वंशजों को निहाल कर देते। सभा में उपस्थित एक चारण से न रहा गया। उसने महाराज पर व्यंग्य बाण चलाते हुए कहा—

मरियों मत माहेश रुम, रीट मंच्य पग रोप।
भागा में भीम्यो जगो, उण पर्ये आसोप॥

अर्थात् आगे से कोई महेशसिंहजी के समान युद्ध-भूमि में हठ कर अपने प्राणों की बाजी न लगा दे। युद्ध से पीठ दिखा कर जो चला आया है उसे आसोप मिला और बेचारे महेशजी की किसी ने खबर ही न ली।

कितने तीक्ष्ण व्यंग और दर्द से भरा हुआ दोहा है यह!

[३]

महाराज मानसिंह ने अकबर की बड़ी भारी फौज लेकर उदयपुर पर आक्रमण किया था। एक बार उदयपुर के पीछोला तालाब में वे अपने घोड़े को पानी पिला रहे थे और गर्व कर रहे थे कि इस पीछोला पर एक बार तो राव जोधा ने अपने घोड़े को पानी पिलाया था और आज दूसरी बार मैं महाराणा के गर्व को खत्म कर अपने घोड़े को पानी पिला रहा हूँ। उनके साथ एक चारण था जिसने उसी समय ताना मारते हुए कहा—

मान! म गरब कर मती, अकबर बल आयाह।
जोधे जागम आपरा, पाणी बल पायाह॥

अर्थात् हे मानसिंह! झूठा गर्व न कर, तू तो अकबर के बल पर यहाँ आया है, जब कि एक राव जोधा ने अपनी भुजाओं के बल पर अपने घोड़े को यहाँ पानी पिलाया था।

[४]

सांगड़ा नाम के एक छोटे राजा की माता का स्वर्गवास होगया था। राजमाता के शोक में सबने अपनी मूंछ मुंडाई किन्तु मुंजालदे ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। किसी ने पूछा- भाई मुंजालदे, तुम क्या राजा को कर नहीं देते? मुंजालदे ने उत्तर दिया- कर जरूर देता हूँ किन्तु मूंछ नहीं मुंडवाऊंगा क्योंकि सांगड़े की माता जब कुँवारी थी तब मेरे साथ इसकी सँगाई की बात हुई थी। यह बात राजा के पास पहुँची। राजा ने हुक्म दिया कि मुंजालदे की मूंछें मुंडानी ही होंगी। किन्तु मुंजालदे ने भी हठ पकड़ लिया और कहा- माथे से माथा जाय किन्तु यह बात नहीं होने की। सांगड़ा अपनी बड़ी सेना लेकर चढ़ आया। छोटे से गाँव का स्वामी मुंजालदे अपना बचाव न कर सका। नंगी तलवार लेकर युद्ध भूमि में उतर पड़ा। बड़ी वीरता से लड़ता हुआ काम आया। प्राण निकल गये पर तो भी उसकी प्रचण्ड काया ऐसी जान पड़ती थी जैसे सजीव हो। मूंछें भौंवों तक लगी हुई थीं। सांगड़ा आकर मुंजालदे के शव पर चढ़ा और तलवार निकाल कर बोला- कहते थे कि मूंछ नहीं मुंडवाऊंगा। यह कह कर अपनी तलवार से मुंजालदे की मूंछ काटने लगा। एक चारण से यह दृश्य न देखा गया। उसने उसी समय निम्नलिखित 'विसहर' का प्रयोग किया—

सोनो ओठ अड़ियो नहीं, नावर वीजी वार ।
सांग समारणहार, मूंछ थारी मुंजालदे ॥

अर्थात् हे मुंजालदे ! तू हजाम (नाई) की तलाश में था पर तुझे कोई मिला नहीं पर आज देख तो सही, यह सांग स्वयं उठ कर हजाम बना हुआ तुम्हारी मूंछ संवार रहा है !!

यह सोरठा सुन कर सांगड़ा खिसिया गया- एक तरफ की मूंछ काटदी थी, दूसरी ओर की मूंछ बिना काटी ही रह गई ! *

[५]

जोधाणनाथ बखतसिंहजी अपने पिता को मार राजगद्दी पर बैठे थे । एक बार 'बापो बापो' कह कर वे अपने अश्व को फिरा रहे थे । एक चारण ने ताना मारते हुए कहा—

बापो मत कह बखतसी, कांपत है केकाण ।
एक बार बापो कह्यां पवंग तजैलो प्राण ॥

अर्थात् हे बखतसिंह ! घोड़े को 'बापो' न कह, घोड़ा कांप रहा है । एक बार जो फिर 'बापो' कह दिया तो घोड़ा अपना प्राण त्याग देगा !

ऊपर पांच 'किसहर' उदाहरण स्वरूप रखे गये हैं । इनसे पता चलता है कि प्राचीन जमाने के चारण झूठी खुशामद नहीं करते थे, अवसर पड़ने पर वे खरी-खोटी सुनाने से कभी नहीं चूकते थे । इसलिए जो राजस्थान के चारणों को केवल अतिरंजित वर्णन करने वाले चाटुकारों के रूप में देखते हैं उन्हें अपनी भ्रान्त धारणा बदल देनी होगी । जिस देश में, जिस समाज में बुराई को बुरा कहने वाला न हो उस देश का, उस समाज का सांस्कृतिक अधःपतन ही समझिये । वाल्मीकि रामायण में कहा गया है कि "जब सीता ने दुष्ट भावना वाले रावण को अपनी पवित्रता के तेज से दूर हटा दिया तो राक्षसियों ने आकर उन्हें घेर लिया और कहा - तुम बड़ी भोली हो, अभी दुनियाँ के व्यवहारों को नहीं जानती हो । नहीं तो जो कुछ तुम्हें दिया जा रहा है उसको तुम यों ठुकरा न देतीं । इस पर भगवती सीता ने उत्तर दिया—बहनों, तुम्हारा यह नगर सुन्दर है, यहाँ के ये भवन भव्य हैं और यहाँ सभ्यता के (संस्कृति के नहीं) सभी उपकरण मौजूद हैं । लेकिन क्या यहाँ दो या तीन व्यक्ति भी नहीं हैं जो पाप को पाप समझ कर रावण को सच्ची बात कह सकें ?" राजस्थान में पाप को पाप कहने वाले चारणों का एक बृहत् समुदाय था जिन्होंने यहाँ की

* स्व० श्री झवेरचन्दजी मेघाणी के एक लेखांश के आधार पर लिखित ।

सांस्कृतिक ज्वाला को जगाये रखने में बड़ा योग दिया है। कवि की स्फूर्तिदायिनी वाणी में सांस्कृतिक निर्माण की बड़ी भारी शक्ति पाई जाती है। चारणों ने अपनी रचनाओं द्वारा साहित्य सेवा तो की ही है, वे राजाओं को कर्तव्य पथ पर आरूढ़ करने के लिए भी प्रेरक शक्ति का काम करते थे अपने आश्रय दाताओं के अनौचित्य को जब वे देखते थे तो 'विसहरों' का प्रयोग कर दिया करते थे। ये 'विसहर' साँप के विष से भी जहरीले होते थे। सर्प यदि काट ले तो एक बार मृत्यु होने पर जीवन की यन्त्रणाओं से हमेशा के लिए छुट्टी मिल जाती है किन्तु इन 'विसहरों' से तो एक ही जीवन में अनेक मृत्युओं का सामना करना पड़ता था। जिस व्यक्ति को लक्ष्य में रख कर 'विसहर' का प्रयोग होता था, उसका तो 'विसहर' सुनते ही मरण हो जाता था। संसार में कोई अपना अपयश नहीं चाहता। हम चाहते हैं कि मृत्यु के बाद भी कोई दो शब्द कह कर हमारा स्मरण करे किन्तु ये 'विसहर' किसी राजा के अपयश को भी चिरस्थायी बना देते थे, इसलिए चारणों को आश्रय देने वाले राजा भी भयभीत रहते थे कि किसी चारण के 'विसहर' के शिकार न बन जायँ। इन विसहरों से बचने के लिए वे देश और धर्म की बलिवेदी पर अपने प्राण न्यौछावर कर दिया करते थे, समय समय पर कवियों को 'लाखपसाव' आदि देते रहते थे और प्रतिज्ञा पालन के पुनीत आदर्श को हमेशा अपने सामने रखते थे। आर्त को एक बार शरण देने पर प्राणपण से उसकी रक्षा किया करते थे। मुझे याद है कि एक बार किसी कॉलेज की छात्राओं की ओर से गाँधीजी के सामने यह प्रश्न रखा गया था कि जो उनसे छेड़छाड़ करें उनके साथ किस तरह पेश आवें? गाँधीजी ने कहा था कि ऐसे व्यक्तियों के कारनामों का समाचारपत्रों आदि द्वारा खुल्लमखुल्ला विज्ञापन किया जाना चाहिए जिससे शर्मिन्दा होकर ऐसे व्यक्ति अनौचित्य से बाज आयें। बुराई का पौधा अंधकार में ही पनपता है, प्रकाश की किरणें पाकर वह मुरझा जाता है। जो व्यक्ति हमें अपनी बुराईयों के प्रति सजग रखता है, वह एक दृष्टि से हमारा उपकार ही करता है। इसी बात को लक्ष्य में रख कर कबीर ने 'निंदक नियरे राखिये' वाली साखी कही होगी।

राजस्थान के चारण! कहाँ हैं तेरे वे 'विसहर' और कहाँ है वह तेरी ओजमयी वाणी? समय-परिवर्तन के साथ साथ तू भी अपनी वाणी के स्वर बदल। क्या तुझे पता नहीं चारण-कुल की प्रशंसा में मेवाड़ के श्री गुमानसिंहजी क्या कह गये हैं!

'नीतिमाग चाले जहा कुमग्गमाल हरबल दे,
बाप बाप बोल अरी मन को बढ़ातो कौ।
कुमति कुदान भरे लाब के अजोर हरे,
और मान आश्रम पै जगम वे जातो कौ॥

देखि रम्य नोदनले घेर रम्य चन्नुन में,
हेर हेर मरम बोल तोमर लगातो को।
नारा-कुल हस्तप जो न होतो गुमान कहैं;
सत्रांकुल कुंभी हमें रोक राह लाता कौ ''

इंद्रिय रूपी हाथियों को सन्मार्ग पर चलाने के लिए आर्यों ने स्वेमुंच अंकुश का काम किया था।

[७] त्रिदोष का पौराणिक और ज्योतिष-सम्मत विवेचन

[श्रीयुत् डॉ बी भट्टाचार्य एम ए पी एच डी]

इस छोटे से निबन्ध में मैं त्रिदोष के पौराणिक और ज्योतिष-सम्मत विवेचन की दृष्टि से कुछ कहूँगा, जो कि प्राचीन भारतवर्ष में इस से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे।

पौराणिक गाथाओं में त्रिदोष त्रिमूर्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिव का वाचक है। ब्रह्मा रक्तवर्ण हैं। वे अग्नि के साकार प्रतीक तथा सृष्टि-कर्ता हैं। मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति १६ से ४० वर्ष के बीच परम उत्कर्ष पर होती है और इसीलिये उसे पित्त युग कहते हैं और इस समय मनुष्य में अग्नि का अंश अधिक रहता है, ऐसा कहा जाता है।

विष्णु वात का स्वामी है जिसके बिना संसार में कोई जीवित नहीं रह सकता। मृत्यु तभी होती है जब श्वास के रूप में प्राण वायु शरीर से निकल जाती है। डूबने से मृत्यु हो जाने का कारण यही है कि उस स्थिति में वायु बिल्कुल नहीं मिलती और श्वास की क्रिया रुक जाती है। विष्णु को इसीलिये पालक देवता माना गया है। वायु का स्थान आकाश है और आकाश का हल्का नीला रंग है और यही रंग विष्णु का भी माना गया है। वात का प्रभाव ४० वर्ष के बाद पड़ता है और मृत्यु पर्यन्त रहता है, जब कि शिराएं शिथिल पड़ने लगती हैं और शक्ति घटने लगती है।

तीसरा अंश जल का है और पौराणिक मतानुसार उसका स्वामी विश्व-संहारक शिव है। शीत में उष्ण वस्तुएं आवश्यक होती हैं इसलिये सब प्रकार की मादक वस्तुएं शिव को प्रिय हैं। वे सर्पों से घिरे रहते हैं क्योंकि सर्पों के विष में उष्णता उत्पन्न करने तथा औषध रूप में दिये जाने पर जीवन की रक्षा करने की शक्ति है। मादक वस्तुएं जैसे भंग, धतूरा आदि भी शिवजी के लिये पवित्र हैं। ये वास्तव में निमोनिया के गहरे प्रभाव से बचने के उपचार

है जो कि स्पष्टत: जल के अंश अथवा कफ से उत्पन्न होता है। जब कफ वश के बाहर हो जाता है तो शरीर सफेद पड़ जाता है और मृत्यु आ घेरती है। इसी कारण शिव का निवास-स्थान श्मशान भूमि माना जाता है।

त्रिमूर्ति की हिन्दू धारणा का आज तक भी ठीक अर्थ नहीं समझा गया है। उसका अर्थ यह है कि जो कुछ संसार में है वह सब आयुर्वेदिक शब्दावली में त्रिमूर्ति अथवा त्रिदोष शब्द द्वारा अभिहित किया जा सकता है। प्रत्येक प्राणु, प्रत्येक परमाणु पित्त वात और कफ इन तीन तत्वों के रूप में त्रिमूर्ति से युक्त है। इन्हीं तीन तत्वों से एक अपौरुषेय नियमानुसार सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार होता रहता है। इस त्रिमूर्ति का आधुनिक शब्दावली में इलेक्ट्रन (Electron), प्रोटन (Proton), और न्यूट्रन (Neutron), नामक तीन तत्वों के रूप में परिचय मिलता है। ये तत्व क्रमश: अग्नि, जल और वात तत्वों के वाचक हैं। इनमें से अन्तिम अर्थात् 'न्यूट्रन' भेद और विभेद का मुख्य साधन है, ठीक उसी प्रकार से जैसे कि वात शरीर में अन्य दो तत्वों अग्नि और जल की मात्राओं को घटाया बढ़ाया करता है। त्रिमूर्ति की तरह त्रिदोष एक चिरन्तन विधान है। क्या पशु जगत, क्या वनस्पति जगत, क्या भूगर्भ सर्वत्र यह त्रिदोष विद्यमान है। दिन रात और ऋतुएं तक इस त्रिदोष के बन्धन से मुक्त नहीं हैं। प्रात:-काल जल है। मध्याह्न अग्नि है और सायंकाल वायु है। शीत काल कफ है, ग्रीष्म पित्त है और वर्षा ऋतु वात है। प्रकृति जड़ और चेतन सबका नियमित रूप से एक चिकित्सक की भांति परीक्षण करती है। वह योग्य को जीवन और अयोग्य को मृत्यु देती रहती है। जब अनेक वस्तुएं जीवन-धारण के अयोग्य हो जाती हैं तो प्रकृति अकाल, महामारी और युद्ध आदि का आविर्भाव करती है। जितनी ही जल्दी हम प्रकृति के इस कार्य को समझें उतना ही हमारे पुत्रों और हमारे पौत्रों के लिये कल्याणकर होगा।

त्रिदोष का ज्योतिष विद्या में भी महत्व स्वीकार किया गया है और इसीलिये तीनों तत्वों के लिये नक्षत्रों के नाम मिलते हैं। ज्योतिष विद्या ने इन तीनों तत्वों को अपने पूर्व रूप में नहीं ग्रहण किया वरन् साम नामक एक विशेष वर्ग निश्चित कर दिया जिसमे अग्नि, वायु और जल तीनों तत्वों का बराबर बराबर भाग है। पृथ्वी एक तत्व है परन्तु उसका लक्षण वात बताया गया है। ज्योतिष में राशी के लक्षण चार भागों में विभाजित किये गये हैं। अग्निमय, पृथ्वीमय, वायुमय और जलमय। वृष, सिंह और धन राशियां अग्नि तत्व प्रधान हैं और क्रमश: मंगल सूर्य और इन्द्र जिनके देवता हैं। तीनों पदार्थ-मूलक राशियां वृष, कन्या और मकर कहलाती हैं- इनमें वात का आधिक्य होता है। इनके स्वामी शुक्र, बुध और शनि हैं। तीनों वात-मूलक राशियां मिथुन, तुला और कुम्भ हैं। जो व्यक्ति इनकी प्रधानता या इन राशियों

से उत्पन्न होते हैं, इनमें वात, पित्त और कफ, समान रूप में होते हैं। इन राशियों के स्वामी क्रमश बुध, शुक्र और शनि हैं। तीनों जल मूलक राशियां कर्क, वृश्चिक और मीन होती हैं। इनमें उत्पन्न मनुष्यों के शरीर में जल और कफ की अधिकता होती है। इन राशियों के स्वामी क्रमश चन्द्र, मंगल व बृहस्पति हैं। इस तरह ज्योतिष त्रिदोष विज्ञान से सम्बंधित है। मिश्रित तत्व उन ग्रहों के द्वारा बताये जाते हैं, जो दो स्थानों के स्वामी होते हैं। जैसे-बुध जो मिथुन (साम) और कन्या (वात) का, मंगल जो मेष (अग्नि) और वृश्चिक (जल) का, बृहस्पति जो धन (अग्नि) और मीन (जल) का, शुक्र जो वृष (वात) और तुला (साम) का, शनि मकर (वात) और कुंभ (साम) का स्वामी है। सूर्य सदैव अग्नि-मूलक एवं चन्द्रमा जल मूलक है और ये क्रमश. सिंह तथा कर्क के स्वामी होते हैं।

ये दृष्टि बिन्दु एवं संकेत बहुत महत्वपूर्ण हैं तथा व्यवहार और विश्लेषण में कल्पनातीत महत्व के हो सकते हैं। उदाहरणार्थ शनि, बुध और शुक्र शुद्धतया वात-मूलक ग्रह हैं और ये नाड़ी मंडल पर प्रभाव डालने वाली बिमारियां जैसे दर्दशूल आदि उत्पन्न करेंगे जो कि वात के कार्य से सम्बन्ध रखती हैं। बृहस्पति और मंगल ऐसी बिमारियां उत्पन्न करेंगे, जिनमें अग्नि और जल का मिश्रण होता है। जैसे गिल्टियों की अधिक सूजन, गण्डमाला, यक्ष्मा, नासूर, मधुमेह आदि आदि। सूर्य से उष्ण ज्वर होंगे और चंद्र से कई प्रकार की जल मूलक व्याधियां होंगी। ग्रहों की अपनी कुछ प्रिय वस्तुएं जैसे धातु, रत्न, जड़ें आदि होती हैं और वे ग्रहों का प्रभाव एवं उसके परिणाम स्वरूप होने वाली तीनों तत्वों की समानता में असन्तुलनता को शमन करने वाली गिनी जाती हैं।

त्रिदोष के नियम सनातन हैं और चाहे वे स्वीकार किये जायें अथवा नहीं, वे सृष्टि के अन्त तक अपने नियमानुसार कार्य करते ही रहेंगे। किसी औषध का प्रकार जो त्रिदोष को स्वीकार कर लेगा, वैज्ञानिक कहा जायगा। और जो नहीं कर सकेगा, वह गुण, प्रभाव व सुरक्षा आदि के होते हुए भी अवैज्ञानिक रहेगा। त्रिदोष विज्ञान भारत की मानव सभ्यता को बहुत बड़ी देन है। यह बड़े दुःख की बात है कि संसार अभिज्ञतया उसके महान् सिद्धान्तों के गुण जानने के लिये यथेष्ट उन्मुख नहीं है।

[८] भोपालसागर (करेड़ा) के जैन मंदिर का शिलालेख

[श्रीयुत् पं० नाथूलाल भागीरथ व्यास]

मेवाड़ स्टेट रेल्वे की उदयपुर-चित्तौड़ शाखा पर भोपालसागर * नामक रेल्वे स्टेशन है, जिसको पहले 'मूंल-करेड़ा' कहते थे। यहां मेवाड़ शुगर फेक्टरी और अच्छा जलाशय बन जाने से अब इस गांव का महत्व बहुत कुछ बढ़ गया है; परन्तु इसके पूर्व भी यह जैन मंदिर के कारण बहुत प्रसिद्ध था। रेल्वे स्टेशन से लगभग १ मील दूर पक्की चहारदिवारी के

---

* उदयपुर के वर्तमान महाराणा सर भूपालसिंहजी महोदय के राज्य समय में करेड़ा गांव के तालाब का कार्य समाप्त हुआ और वहां शुगर फेक्टरी का निर्माण हुआ। फलतः करेड़ा का नाम 'भोपालसागर' रूप में परिवर्तित हुआ। यहा जो विशाल जैन मन्दिर है, उसके वि० सं० १४९६ के एक शिलालेख में इसका पुराना नाम 'करहेटक' दिया है-

"॥ ॐ ॥ सं० १४९६ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ३ बुधवारे श्री ऊकेश वंशे नाहट शाखायां। सा० माजण पुत्र सा० व

"णवीर पुत्र सा० भीमा। बीसल रणपाल प्रमुख पौत्रादि परिवार सहितेन श्रीकरहेटक स्थाने श्री पार्श्व

"नाथ भुवने श्री विमलनाथ देवस्य देवकुलिका कारापिता ॥ प्रतिष्ठिता श्री खरतरगच्छे श्री जिनवर्द्धन सू-

"रीणामनुक्रमे श्री जिनचन्द्र सूरिपट्टकमलमार्तंड मंडलिः श्री मज्जिनसागर सूरिभिः ॥ शिवमस्तु ॥

"कर संग देवराज पुन्यार्थः ॥

[बाबू पूर्णचन्द्र नाहर; जैन लेख संग्रह, द्वि. खंड, पृ० १४१, सं० १९४७]

भीतर श्वेतांबर आम्नाय का पार्श्वनाथ का विशाल और भव्य जैन मन्दिर बना हुआ है। उक्त जैन मन्दिर अधिक पुराना नहीं मालूम होता और सभा मण्डप के ऊपरी भाग में एक ओर मस्जिद बनी हुई है जिससे अनुमान होता है कि मुसलमानों के शासन काल में जब कि मेवाड़ पर उनका अधिकार था इस मन्दिर का निर्माण हुआ हो। एवं इसी कारण से मस्जिद बनाई गई कि मुसलमान भी उसकी प्रतिष्ठा करें और किसी प्रकार से हानि नहीं पहुँचावें।

जैसा कि प्राय जैन मन्दिरों में होता है, इस मन्दिर में भी अधिकांश मूर्तियों पर लेख खुदे हुए हैं, जिनको जैन धर्मानुयायी मूर्ति पूजक आम्नाय के श्वेतांबर जैन कलकत्ता निवासी स्वर्गवासी बाबू पूर्णचन्द्र नाहर ने अपने विद्यानुराग से 'जैन लेख संग्रह' नामक वृहद् ग्रंथ (द्वितीय खंड) में मुद्रित किया है। ||| नाहरजी के उक्त जैन लेख संग्रह में सैंकड़ों की संख्या में जैन मन्दिरों से संबंधित प्रशस्तियाँ और मूर्तिलेख पढ़ने को मिलते हैं। वस्तुत: नाहरजी द्वारा यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हुआ और यह उनके सद् उद्योग का ही फल है कि 'जैन लेख संग्रह' में हमें उदयपुर, ‡ नागदा, ※ देलवाड़ा, † करेड़ा × आदि जैन मन्दिरों के शिलालेख पढ़ने को मिलते हैं। उदयपुर, नागदा, देलवाड़ा, धूलेव आदि के जैन मन्दिरों के लेखों का तो श्रद्धेय डॉ ओझा ने भी 'उदयपुर राज्य का इतिहास' में वर्णन किया है, किन्तु करेड़ा के मन्दिर के लेखों का उल्लेख उनके इतिहास में नहीं है, जिसका कारण यही है कि उनके राजपूताना के इतिहास का दूसरा खंड प्रकाशित होने के समय तक नाहरजी का 'जैन लेख संग्रह' द्वितीय खंड प्रकाश में नहीं आया था।

भोपालसागर के जैन मन्दिर के लेखों में एक बड़ा महत्वपूर्ण लेख है, जो वि० सं० १३६२ पौष सुदी ९ रविवार का है। यह लेख जालोर के सोनगरा वंश के राव मालदेव और उसके पुत्र वणवीर से सम्बन्ध रखता है, जिनका कुछ वर्ष तक वि० सं० की चौदहवीं शताब्दी में दिल्ली के खिलजी और तुगलक

||| पृ० ११२-४१, लेख संख्या १९०४-४७।

‡ जैन लेख संग्रह (द्वितीय खंड) पृ० ८८- १५, ११८ - ३१।

※ वही, पृ० २४१-४४।

† वही, पृ २४४-४८।

× वही पृ० ११९-४१।

सुलतानों की अधीनता में चित्तौड़ पर शासन रहा था। यद्यपि इस लेख में केवल तीन ही पंक्तियां हैं, तथापि उससे इतिहास के एक अपुष्ट अंग की पूर्ति होती है। अब तक इतिहासकारों का इस तरफ ध्यान नहीं गया, जिससे उस पर उनके कुछ भी विचार प्रकट नहीं हो सके।

इसके लिए उपर्युक्त शिलालेख को मूल पाठ यहां उद्धृत किया जाता है -

" संवत् १३६२ वर्षे पौष सुदि ७ रवौ श्री चित्रकूट स्थाने महाराजाधिराज पृथ्वीचन्द्र...
" श्री मालदेव पुत्र श्री वणवीर सत्कं सिलहदार महमद देव सुहडसींह चऊंडरा सत्कं पुत्र...
" दिवं गतं तस्य सत्कं गोमट्ट कारापितं ॥

[जैन लेख संग्रह, द्वि. पृ० २४१ सं. १६५५]

इस लेख का आशय यह है कि वि० सं० १३६२ पौष सुदि ७ (ई० स० १३३५ ता० २३ दिसम्बर) रविवार ‡ को श्री चित्रकूट स्थान के महाराजाधिराज, पृथ्वीचन्द्र श्री मालदेव के पुत्र वणवीर के समय सिलहदार महम्मददेव सुहड़-सिंह चौंड के पुत्र ने परलोक वासी पुत्र.......................के श्रेय के निमित्त गोमट्ट (गुम्बज)बनवाया।

मूल पाठ में उल्लिखित 'चित्रकूट स्थाने' का तात्पर्य यहां प्रसिद्ध चित्तौड़ दुर्ग से है जो करेड़ा से केवल तीस मील की दूरी पर पूर्व में स्थित है। 'महाराजाधिराज' यह मालदेव की उपाधि होकर 'पृथ्वीचन्द्र' उसका विशेषण है। मालदेव एवं उसका पुत्र वणवीर किस राज वंश का था, यह उपर्युक्त लेख से प्रकट नहीं होता; परंतु इतिहास बतलाता है कि वह जालोर के सोनगरा शाखा के चौहान राव कान्हड़देव का छोटा भाई था। एवं जालोर का राज्य सुलतान अलाउद्दीन खिल्जी द्वारा नष्ट कर देने पर वह इधर-उधर रह कर सुलतान के विरुद्ध उपद्रव करता था। अंत में वह सुलतान की सेवा करने को बाध्य हुआ, जिस पर प्रसन्न होकर उक्त सुलतान ने उसको चित्तौड़ का शासक नियत किया। तुगलक खानदान के समय में भी मालदेव तथा उसके वंशधर चित्तौड़ के शासक रहे। जालोर की अपेक्षा चित्तौड़ अर्थात् मेवाड़ का राज्य अधिक प्रतापशाली था।

---

‡ इण्डियन एफेमेरिज (By Swami Kannu Pillai, I. S. O.) जि. ४, पृ. २७१ में वि० सं० १३६२ पौष सुदि ७ के दिन शनिवार दिया है। किन्तु उपर्युक्त शिलालेख के पाठ में रविवार छपा है। संभव है मूल लेख में भी 'रविवार' ही हो। दक्षिण और उत्तरी भारत की गणना में कभी कभी एक दिन का अंतर पड़ जाता है। इस कारण से यहां भी वार के मिलान में एक दिन का अन्तर पड़ता हो तो आश्चर्य की बात नहीं है।

अस्तु मालदेव ने चित्तौड़ का शासक बनने के पीछे अपनी पैतृक उपाधि 'राव' परित्यक्त कर 'महाराजाधिराज' उपाधि रक्खी। सोनगरा राव मालदेव के पुत्रों में से एक बणवीर भी था। ऐसी अवस्था में उपर्युक्त शिलालेख के राव मालदेव सोनगरा से सम्बन्धित होने में कोई सन्देह नहीं है।

यह इतिहास प्रसिद्ध बात है कि वि० स० १३५९ (ई० सन् १३०३) में मेवाड़ की प्राचीन राजधानी चित्तौड़ पर गुहिल वंशी महारावल रत्नसिंह के समय दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिल्जी ने चढाई की थी। × क्षत्रियवीरों ने दीर्घ काल‡ तक शत्रु सैन्य से मुकाबला किया, परन्तु जब उनका बल क्षीण होगया और दुर्ग के भीतर का खाने पीने का सामान समाप्त हो गया तब राजपूत वीर अपने वंश की प्रतिष्ठा स्थिर रखने के लिए महाराणी पद्मिनी के साथ अन्य सहस्त्रों महिलाओं को जौहर की अग्नि में प्रवेश करा, दुर्गद्वार खोल मुसलमानों से भिड़गये, तथा वीरता पूर्वक युद्ध करते हुए महारावल रत्नसिंह, सीसौदे के सरदार राणा लक्ष्मणसिंह और उस के सात पुत्र आदि सहस्त्रों मनुष्य मारे गये। †

× अमीर खुसरो लिखित 'तारीख-ए-अलाई' के अनुसार सोमवार ता० ८ जमादिउस्सानी हि० सन् ७०२ (वि० स० १३५९ माघ सुदि ९ = ई० स० १३०३ ता० २८ जनवरी) को सुल्तान ने चित्तौड़ पर चढ़ाई के लिये दिल्ली से प्रयान किया था।

‡ राजपूत वीरों के साथ सुल्तान का छ मास तक युद्ध होता रहा और सोमवार ता० ११ (मुहर्रम हि स ७०३) वि० स १३६० भाद्रपद सुदि १४ = ई स० १३०३ ता० २६ अगस्त) को सुल्तान ने चित्तौड दुर्ग विजय किया एवं घेरे के समय चातुर्मास में सुल्तान की फ़ौज को बडी हानि पहुची।

† [पु] रत्नसिंह [म] नय निपुणस्य [चित्र] कूटाचलरक्षणाय।
महेशपूजाहतकल्मषौघ खुमाणपति स्वगपतिर्बभूव ॥ १७६ ॥
पु [रु] माणवंशः खलु लक्ष्मसिंहस्तास्मिन गते दुर्गवर ररक्ष।
कुलस्थि[ति] कापुरुषैर्विमुक्ता न जातु धीरा [पुरुषा] स्त्यजन्ति ॥१७७॥
इत्थ म्लेच्छवंश[य] कृत्वा सङ्गरे सव [समर] नृप।
निजकुलानल स्वानू सप्तभूतो दिव ययौ ॥१७८॥ (तृतीय पट्टिका)
अर्चिर्भि किन्तु संप्रति रिपरित सप्ताचिरन्तागत
क्रिया धारामिरेव सिसिभिरि [द्वाचारस] प्रशास्तिर्दिव।
इत्थ मत्तमिरिन्निन सुतवरैस्ते[स्ते] शास्त्रपूते [भि] न्द
सप्ते मुद्गिरभूरसुपर्व नृपते श्री लक्ष्मसिंहे नृप ॥१८०॥ (चतुर्थ पट्टिका)
कुम्भलगढ़ के मामादेव का वि० स० १५१७ की प्रशस्ति एपि ग्राफिया इन्डिका भि २४, ११)

तदुनंतर अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया और कुछ दिनों तक वह वहां ठहरने के उपरांत अपने शाहजादे खिजरखाँ को सारा अधिकार सौंप कर दिल्ली को रवाना हुआ। लगभग दस वर्ष तक चित्तौड़ पर खिजरखाँ का शासन रहा†। फिर सोनगरा राव मालदेव सुलतान की आज्ञा से हि० स० ७१२ (वि० सं० १३६९-७०=ई० सन् १३१२-१३) और हि० स० ७१६ (वि० सं० १३७३= ई० सन् १३१६) के बीच किसी वर्ष चित्तौड़ का शासक बना। चित्तौड़ से फारसी लिपि के कुछ टूटे हुए शिलालेख मिले हैं, जिन से पाया जाता है कि चित्तौड़ पर तुग़लक खानदान के दिल्ली के सुलतानों का भी प्रभुत्व रहा था और उनके अधार पर ऐसा कह सकते हैं कि खिल्जी तथा तुग़लक सुलतानों की अधीनता में मालदेव तथा उसके वंशधर चित्तौड़ पर शासन करते रहे। प्रसिद्ध ख्यात लेखक मुंहणोत नैणसी उसका चित्तौड़ पर सात वर्ष तक शासन करना लिखता है।‡ इससे अनुमान होता है कि वि० सं० १३८० (ई० सन् १३२३) के आसपास तक तो मालदेव विद्यमान था।

मालदेव के जैसा, कीर्तिपाल और बणवीर नामक पुत्र थे।* इनमें से जैसा, ज्येष्ठ होने से मालदेव के पीछे चित्तौड़ का शासक रहा हो। कीर्तिपाल का कुछ इतिहास नहीं मिलता; परन्तु बणवीर के समय का वि० सं० १३९२ (ई० सन १३३५) का उपर्युक्त शिलालेख मिल जाने से सोनगरे चौहानों का चित्तौड़ पर अधिकार रहने में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है।

दिल्ली के मुसलमान सुलतानों के कालक्रम पर विचार करने पर पाया जाता है कि वि० सं० १३७७ (ई० स० १३२०) में खिल्जी खानदान का अंत होकर तुग़लक खानदान का आधिपत्य हुआ और उनमें गयासुद्दीन तुग़लक शाह पहला सुल्तान हुआ। तदुनंतर वि० सं० १३८१ (ई० सन् १३२४) में मुहम्मद तुग़लक और वि० सं० १४०८ (ई० सन् १३५१) में फिरोजशाह तुगलक क्रमशः सुलतान बने। ओपालसागर का उपर्युक्त शिलालेख वि० सं० १३९२ (ई० सन् १३३५) का है, उस समय मुहम्मद शाह तुग़लक दिल्ली का सुलतान था, जो शक्तिशाली था। इससे यह मानने में भी कोई आपत्ति

---

† डॉ० ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास पृ०१९२।

‡ मुहणोत नैणसी की ख्यात. प्रथम भाग, पृ० १५३।

* वही, भाग १. पृ० १५३।

नहीं हो सकती कि वि० सं० १३६२ (ई० सन् १३३५) अर्थात् मुहम्मदशाह तुगलक के शासन के मध्यकालीन समय तक चित्तौड़ पर सोनगरे चौहानों का आधिपत्य था।

कर्नल टॉड के सुप्रसिद्ध 'राजस्थान' * और महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास के 'वीरविनोद'† नामक बृहद् इतिहास में चित्तौड़ पर सोनगरा चौहानों का आधिपत्य होना स्वीकार किया गया है, परन्तु यह भी उल्लेख है कि सोनगरा चौहान मालदेव की पुत्री का विवाह गुहिल वंश की सीसोदा शाखा के महाराणा हमीरसिंह के साथ हुआ और उक्त वीर महाराणा ने कौशलपूर्वक चित्तौड़ पर से सोनगरा चौहानों का अधिकार उठा कर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया, और वहां पुनः गुहिल वंश की पताका फहराई। डॉ० ओझा ने इन दोनों विद्वानों के कथनों को ध्यान में रखते हुए वि० सं० १३८२ (ई० सन् १३२५) के पीछे महाराणा हमीरसिंह का चित्तौड़ पर अधिकार होने का अनुमान किया,‡ जो बहुत कुछ ठीक है परन्तु भोपालसागर के जैन मंदिर का उपर्युक्त शिलालेख उनके अनुमान को और आगे बढ़ाता है और यह बतलाता है कि वि० सं० १३६२ (ई० सन १३३५) तक सोनगरे चौहान ही चित्तौड़ के शासक थे और इसके पीछे किसी वर्ष महाराणा हमीरसिंह ने चित्तौड़ पर अपना अधिकार किया होगा।

उपर्युक्त शिलालेख में सिल्हदार 'महमददेव', 'गुहड़सिंह', और 'वड़ड़ा' नाम आये हैं। यह कौन व्यक्ति थे, इस विषय पर सामग्री के अभाव में प्रकाश नहीं डाला जा सकता। किंतु 'सिल्हदार' शब्द किसी सैनिक ओहदेदार का ही सूचक है, जो उस समय करेड़े में रहा हो।

डॉ० ओझा के लेखानुसार उपर्युक्त जिनालय के मुख्य मंदिर के मंडप के इधर उधर के जिनालयों में से एक के मंडप में अरबी लिपि में एक शिलालेख लगा हुआ है, ● परंतु मालूम होता है कि अब तक इस शिलालेख को पढ़ा नहीं गया है। शीघ्र ही पुरातत्ववेत्ताओं को इस दिशा में अपना ध्यान आकृष्ट करने की आवश्यकता है।

---

* टॉड, एनॉल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आफ राजस्थान जि० १।

† वीर विनोद, प्रथम भाग, पृ० २९१-९९।

‡ डॉ० ओझा, उदयपुर राज्य का इतिहास, जि० १ पृ० ६१।

● वही जि० १, पृ० १२८।

सम्पादकीय —

लोक-साहित्य का महत्व

शिक्षित वर्ग का ध्यान जितना शिष्ट-साहित्य की ओर है, उतना लोक-साहित्य की ओर नहीं। कुछ वर्षों पहले तो लोक-साहित्य के नाम से ही तथाकथित शिष्ट-समुदाय नाक-भौं सिकोड़ने लगता था किन्तु जब से समाज-शास्त्र और नृ-विज्ञान का विशेष अध्ययन होने लगा, लोक-साहित्य संबन्धी भ्रान्त धारणाओं में परिवर्तन होने लगा और अब तो यह देख कर हर्ष होता है कि बड़े बड़े विशिष्ट विद्वानों ने लोक-साहित्य की उपयोगिता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। हिन्दी साहित्य का जनपदीय आन्दोलन भी लोक-साहित्य की महत्ता का ही उद्घोष करता है।

लोक-वार्ताएं, लोकोक्तियां, लोक-गीत, धार्मिक विश्वास, घरेलू प्रथाएं, रहन-सहन और रीति-रिवाज, प्राचीन परम्पराएं आदि लोक-साहित्य के अन्तर्गत हैं। लोक-साहित्य एक प्रकार से कण्ठस्थ मौखिक साहित्य है जिसकी सम्पूर्ण विशेषताओं का परिचय तो सुन कर ही प्राप्त किया जा सकता है। कहा जाता है कि शिक्षा के विकास के साथ साथ लौकिक साहित्य का ह्रास होने लगता है। इसलिये लोक-साहित्य के संग्रह की ओर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है। लोक-मानस का प्रतिबिंब तो लोक-साहित्य में ही देखा जा सकता है। पाश्चात्य देशों में लोक-साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन हुआ है और लोक-विज्ञान पर बड़े महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। हमारे देश में भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि जितना लोक-साहित्य जनता की जबान पर है उसके प्रामाणिक संग्रह किये जायँ, वर्गीकरण और विश्लेषण का काम हाथ में लिया जाय, वार्ताओं, रीति-रिवाजों आदि के मूल रूपों का अनुसंधान किया जाय। घूम घूम कर लोक-साहित्य का संग्रह करना होगा। कष्ट-साध्य होते हुए भी यह कार्य नितान्त वांछनीय है।

राजस्थान में भी लोक साहित्य के संग्रह, संपादन और प्रकाशन का कार्य कुछ संस्थाओं द्वारा हुआ है और अब भी जारी है किन्तु राजस्थान के

विशाल लोक साहित्य को देखते हुए जिस बड़े पैमाने पर यह काम होना चाहिए था, उसका शतांश भी सम्पन्न नहीं हो पाया है। यदि कुछ विद्वान् लोक-साहित्य की विभिन्न शाखाओं को अपने विशेष अध्ययन का विषय बनायें तो बड़ा उपयोगी कार्य इस दिशा में किया जा सकता है। इतिहास के विशेषज्ञ कहा करते हैं कि किसी देश का वैज्ञानिक इतिहास ही प्रस्तुत किया जाना चाहिये, राष्ट्रीय अथवा सांस्कृतिक इतिहास तटस्थ दृष्टि से नहीं लिखा जा सकता। इतिहासकार चाहे जो कहें, सांस्कृतिक इतिहास की महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता और सच्चे सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री तो लोक साहित्य में ही सुरक्षित रहती है। प्राचीन संस्कृति के भग्नावशेषों के आधार पर जो लोक साहित्य में छिपे रहते हैं सांस्कृतिक इतिहास का प्रासाद खड़ा किया जा सकता है हम अपने विद्वान पाठकों से यह चाहेंगे कि वे लोक-साहित्य के सम्बन्ध में संग्रह सम्बन्धी, गवेषणात्मक अथवा वैज्ञानिक लेख लिखें जिससे लोक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी नई बातें प्रकाश में आवें। पत्रिका के आगामी अंकों के लिए हम इस प्रकार के लेखों का स्वागत करेंगे।

पिलानी] — कन्हैयालाल सहल

राजस्थान के इतिहास सम्बन्धी साहित्य में कमी

इतिहास में अमर होकर भी इतिहास-उपेक्षी राजस्थान कब तक यों अप्रामाणिक दन्त-कथाओं और कपोल कल्पित कहानियों के फेर में पड़ा रहेगा ? अपनी आन पर डटे रहने वाले कुंभा, साँगा और प्रताप का देश कब तक टॉड द्वारा प्रचलित संकीर्ण दृष्टिकोण की भूलभुलैया में भुलावा खाता रहेगा ? मीरां, पृथ्वीराज, जसवन्तसिंह और सूरजमल का प्रशंसक समाज कब तक साहित्य के प्रति उदासीन बना रहेगा ? समस्त उत्तरी भारत की वेधशालाओं के एकमात्र निर्माता सवाई जयसिंह के देशवासी कब तक विज्ञान से मुंह मोड़े रहेंगे ?

आज स्वाधीनता की देहली पर खड़ा भारत अपने भावी शासन विधान के निर्माण में लगा हुआ है। राजस्थान प्रान्त को सुसंगठित करने के लिए भरसक प्रयत्न किए जा रहे हैं। किन्तु इतिहास-प्रसिद्ध ऐतिहासिक राजस्थान आज भी इतिहास-विहीन है। समूचे राजस्थान का सम्बद्ध प्रामाणिक प्रान्तीय इतिहास अब तक नहीं लिखा गया है। टॉड ने विभिन्न राजघरानों का अलग २ ऐतिहासिक विवरण लिखने की जो परिपाटी डाल दी थी, हम अब तक उसी का अनुसरण कर रहे हैं। ओझा, रेऊ आदि विद्वान् लेखकों ने राजस्थान के अनेकानेक राज्यों के क्रमबद्ध इतिहास लिखे हैं, तथापि कई वह

शोचनीय कृतियाँ अब भी विद्यमान हैं । सन् १९०८ ई० के लगभग प्रकाशित गैजेटियरों में दिए गए संक्षिप्त विवरणों के अतिरिक्त जयपुर, बूँदी, करौली, भरतपुर, जैसलमेर और अलवर जैसे महत्त्वपूर्ण राज्यों के क्रमबद्ध इतिहास अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं ।

राजस्थान के इतिहास की कितनी महत्त्वपूर्ण सामग्री आज अन्धकारपूर्ण अज्ञात कोनों में धूल-धूसरित कूड़े-करकट में पड़ी विनष्ट हो रही है ! उसको एकत्रित कर उसकी सुरक्षा तथा प्रकाशन के लिये कौन उत्सुक है ? देश और समाज की इस अमूल्य धरोहर के प्रति किसे अपना ठीक ठीक कर्तव्य ज्ञान है ? अपने सुविख्यात इतिहास के प्रति राजस्थानियों की यह उपेक्षा, अपने पूर्वजों से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री के प्रति उन्हीं महान् पुरुषों की सुपूत कही जाने वाली सन्तान का यह तिरस्कार...। क्या राजस्थान में भी कभी राजवाड़े, पारसनिस, साने, खरे और सरदेसाई उत्पन्न होंगे, जो उसी उत्साह, साहस, त्याग, लगन और विद्वत्ता के साथ राजस्थान के इतिहास की अगाध सामग्री एकत्रित कर उसके उपयोग के लिए प्रयत्नशील हों ?

ऐतिहासिक सामग्री की खोज, उसका संग्रह एवं प्रकाशन का ही कार्य इतना बड़ा है कि कई दरजन कार्यकर्ताओं को अपने जीवन के अनेकों बहुमूल्य वर्ष इसमें बिता देने होंगे । जिन महत्त्वपूर्ण राज्यों या घरानों के इतिहास अभी तक नहीं लिखे गए, उनकी ओर तत्काल ही ध्यान देना होगा, और अन्त में हमें राजस्थान का प्रान्तीय इतिहास लिखवाने का भी शीघ्र ही आयोजन करना होगा । क्या आशा की जा सकती है कि राजस्थान के उत्साही नवयुवक इतिहासज्ञ इन सारी कमियों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होंगे ? बड़े बड़े आयोजनों की कमी नहीं है, अभाव है तो केवल हिम्मत न हारने वाले कार्यकर्ताओं और त्याग तथा लगन के साथ जीवन खपा देने वाले विद्यार्थियों की ।

भव्य सुविशाल सुन्दर भवन का शिखर बनने को कौन उत्सुक न होगा ? किन्तु अज्ञात नियति की अनबूझ कृपा पर निर्भर शिखर का यह गौरव, क्या कभी तप त्याग और साधना से प्राप्त नींव के पत्थर बनने के आदर की समता कर सकता है ? आज हमें नींव के पत्थर बनने को उत्सुक सैकड़ों उत्साही युवकों की ही आवश्यकता है ।

सीतामऊ]

—रघुबीरसिंह

पुरातत्त्व और उसका इतिहास

शोध-पत्रिका का प्रस्तुत अंक पाठकों के सामने है । इस अंक में पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री का प्रचुर उपयोग न हो सका । अगले अंकों में हम

आशा करते हैं, सहधर्मियों के सहयोग से हम इस स्तम्भ के आकार प्रकार में उचित परिवर्तन कर सकेंगे । अस्तु ।

पुरातत्व इतिहास की नींव है । इसके अनुशीलन के बिना इतिहास के पाए नहीं खड़े किये जा सकते । जिन देशों का अतीत गौरवमय नहीं रहा है और जिनकी सभ्यता की प्राचीनता सन्दिग्ध है, पुरातत्व वहां के इतिहास ज्ञान में विशेष सहायक नहीं हो सकता । परन्तु जहां साम्राज्य उठते गिरते रहे हैं, सभ्यताएं फैलती मिटती रही हैं वहां पुरातत्व की सहायता से ही इतिहास जाना और लिखा जा सकता है । पुरातत्व इतिहास नहीं है परन्तु इतिहास की वह शिलाभित्ति है । इतिहास का निर्माण वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक दोनों रीतियों से हो सकता है परन्तु पुरातत्व की सामग्री खरी वैज्ञानिक होगी । हेरोदोतस इतिहास लिखता हुआ 'भारत में विचरने वाले दो पूंछ के सिंहों' का बखान कर सकता है, 'लोमड़ी के बराबर ऊंचाई वाली चींटियों द्वारा हिमालय से खोद सोने की राशि खड़ी कर देने की बात कह सकता है, हालवेल कलकत्ते की काली कोठरी का दर्दनाक वर्णन कर सकता है परन्तु पुराविद मूक भाषा में सबल चोट करता है । उसकी सामग्री नितान्त सच्ची है । शताब्दियों से खोई, खोई सभ्यताओं की परतें जैसी उन्हें समसामयिक मानव ने छोड़ीं, आज भी अपनी छाती फाड़ अतीत की धरोहर उगल देती हैं । शब्द का आडम्बर उनके पास नहीं है पर रखा रखा, कहा कहा उनका सही है । मुखरित अतीत की वे मौन पराकाष्ठा हैं ।

पुरातत्व का इतिहास पुराना नहीं अपेक्षाकृत आधुनिक है । इसका वैज्ञानिक अनुशीलन अठारहवीं सदी के मध्य और विशेषकर पिछले चरण में आरम्भ हुआ । उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में वह काफी बढ़ा । यूरोप में पहले पहल ग्रीस और रोम के भग्नावशेषों के अध्ययन के लिए Society of Dilettanti की नींव पड़ी । Society of Antiquities ने इस कार्य को ओर आगे बढ़ाया । सन् १७६९ में चेन्डलर और रेवेट ने Antiquities of Ionia प्रकाशित किया । मिस्रानी पिरामिडों की दुनिया चित्र-लेखों के दुर्ग प्राचीरों के पीछे छिपी थी । टामस यंग और शाम्पोलियो ने अपने अध्यवसाय से उन्हें भेद डाला । शाम्पोलियो की मेधा तो अचरज की थी । प्रसिद्ध रोसेटा-शिलाखंड से उसने प्राचीन विलुप्त मिस्रानी भाषा और लिपि का पुनरुद्धार किया । अपने अनुसंधानों द्वारा इस पुराविद ने संसार को उसके इतिहास का एक खोया प्रकरण प्रदान किया । हनरी लेयार्ड ने मेसोपोतामिया की असुरी सम्पदा हमारे सामने रखी और रालिन्सन ने फारस साम्राज्य के स्वामी दारयवहु की बेहिस्तून की प्रशस्ति की पहेलियाँ सुलझा दीं । इसके बाद इस क्षेत्र में उस जर्मन पुराविद श्लीमान का अवतरण हुआ जिसने इस

पुरातत्व के अध्ययन को वास्तविक वैज्ञानिक आधार दिया। इसने क्रीट की माइकीनियन सभ्यता का पुनरुद्धार किया और होमर के प्रसिद्ध ट्राय नगर की छः परतें खोद कर वह एगामेम्नन और एगामेम्नन की कब्रों से टकराया। इसकी सूझ की पहले तो यूरोप ने मखौल उड़ाई परन्तु शीघ्र इसके अनुसंधानों ने पुरातत्व के क्षेत्र में उसका साका चलाया। इसके बाद जान और आर्थर ईवान्स, पिता-पुत्र ने, पुराज्ञान का परिपोषण किया।

भारत में भी इस प्रकार के अनुसन्धान कार्य का आरम्भ अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में सुप्रीम कोर्ट के जज सर विलियम जोन्स ने किया। प्रिन्सेप ने अटूट अध्यवसाय और विस्मयजनक धैर्य से ब्राह्मी लिपि को पढ़ डाला। भारतीय पुरातत्व के मन्जिल सर अलेग्जेन्डर कनिंघम, सर जान मार्शल, राखालदास बन्धोपाध्याय आदि ने तय किए। राखालदास ने सैन्धव सभ्यता की समाधियों पर पहले पहले फावड़ा चलाया।

भारतीय सैन्धव, मिस्रानी, चीनी, सुमेरी, एलामी, अक्कादी, असूरी, माइकीनी, ग्रीक, रोमन आदि सभ्यताओं और संस्कृतियों को भूगर्भ से निकाल कर हमारे सामने रखने वाला पुराविद् का फावड़ा स्तुत्य है। भारतीय इतिहासकार उसका कृतज्ञ है। हम अपने पाठकों के सामने उसके द्वारा प्रस्तुत अनन्त रत्न-राशियों को समय २ पर रखते रहेंगे।

पिलानी] —भगवतशरण उपाध्याय

कला और उसका वर्तमान में अवलोकन

कला का संबंध विशेषकर भावनाओं से है। परन्तु जब भावना की जगह बुद्धि ग्रहण करती है तो निश्चय ही उसकी (कला की) ग्राह्य शक्ति कम हो जाती है। आज का युग विज्ञान और तर्क का है और ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धि और भावना का समतोलन बिगड़ सा गया है। इसलिये आज की उद्भूत कला भी बौद्धिक हो रही है। कला युग का प्रतीक होती है इसलिये आज के विविध वादों, बौद्धिक उलझनों और विज्ञान के विविध पहलुओं की उस पर छाप होना स्वाभाविक है। युग की बहती हुई धारा को मोड़ देना कोई सरल काम नहीं। युग जैसा बनेगा वैसी ही उसकी कला भी बनेगी। मनुष्य को युग बनाता है और युग मनुष्य द्वारा निर्मित होता है। यह तो एक प्रकार का चक्र है जो स्वतः घूमता रहता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपनी कमियों को देखने और उन्हें दूर करने की कोशिश ही न करें।

कला में बुद्धि का अंश एक हद तक आवश्यक है परन्तु उसकी प्रधानता घातक होती है। इसी तरह केवल भावना से ही ओत प्रोत कला-कृति

हृदय को प्रभावित करने वाली अवश्य होती है मगर वह प्रभाव अधिक स्थायी और गहरा नहीं होता। इसीलिए भावना के साथ कुछ बुद्धि का पुट आवश्यक है, जिससे उसमें एक प्रकार की व्यवस्था और मर्यादा भी रहती है, परन्तु इससे विपरीत स्थिति कला के लिए अत्यन्त घातक है। यह स्थिति आज की कृतियों में स्पष्ट परिलक्षित होती है। विज्ञान युग का मानव अधिकतर वस्तुवादी, भौतिक और यान्त्रिक सा होगया है, कला के प्रति उसकी रुचि कुंठित सी हो गई है। यही कारण है कि उसे भोजन, अन्न वस्त्र और निवास की आवश्यकताओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता और जो भी कला के प्रति उसकी रुचि बची है वह विषम और दूषित सी है। यह हम कह सकते हैं कि प्राचीन कला की कसौटी से नई कला को नापना गलत है। प्राचीन समय में कविता, संगीत, नृत्य, स्थापत्य, चित्रकला आदि में धार्मिक भावना विशेष थी, इसलिये उनमें एक प्रकार का आध्यात्मिक आकर्षण था। प्राचीन भारत का मनुष्य भावुक विशेष था और त्याग ही उसके जीवन का लक्ष्य था संग्रह नहीं, परन्तु विपरीत इसके आज का भारतवासी धर्म के बंधनों से मुक्त, त्याग की भावना से विलग और संग्रह की ओर प्रवृत्त है इसलिए उसकी कला रुचि भी एक विशिष्ट ढांचे में ढल गई है। हमारी वर्तमान दुर्दशा वैसे हमें जीवन के निम्न स्तर से ही नहीं उठने देती फिर कला की रुचि का सवाल ही कहाँ रहा। मगर जो भी रोटी, वस्त्र, आदि के प्रश्नों से मुक्त हैं उनकी रुचि का विश्लेषण करें तो हंसी सी आती है। उनके लिए यदि भवन निर्मित किये जाय तो उपयोगिता का दृष्टिकोण सर्वोपरि होना चाहिये। इसी तरह नाटक, संगीत, साहित्य आदि भी उनकी संग्रह प्रवृत्ति में सहायक होने चाहिये। अब रहा हमारा बुद्धि-वादी वर्ग, उसे तो कला की तरफ आंख उठाने की भी फुरसत नहीं।

यह सच है कि कला की रुचि वृद्धि के पूर्व देश की विविध समस्याओं का निराकरण होना अत्यन्त आवश्यक है, फिर भी हम उनके बाहर की समस्याओं से आंख बांधे नहीं रह सकते। सच्ची कला के प्रति लोगों का दृष्टिकोण बदलने का प्रयत्न आवश्यक है और कला के नाम पर जो निम्न कोटि का प्रदर्शन विविध क्षेत्रों में हो रहा है उसे रोकने और बदलने का हमारा सबसे पहला कर्तव्य है।

यह स्वाभाविक है कि किसी वस्तु का जब बिगाड़ होता है तो उसका पुनः निर्माण सर्व प्रथम दोषपूर्ण और विषमता लिये हुए होता है। नाटक, संगीत, काव्य, चित्रकला, नृत्य आदि में आजकल यही हो रहा है। हम यह भी नहीं कहते कि इस बीसवीं शताब्दी में हम पुनः प्राचीन की ओर मुंह बाके रहें और नवनिर्माण की ओर ध्यान ही न दें। प्राचीनता प्राचीन ही रहेगी और नवीन प्राचीन नहीं बनाई जा सकती, परन्तु कला की जो शाश्वत धारा प्राचीन और नवीन दोनों में समान रूप से बह रही है उसके दर्शन कर

हम सबके लिये जरूरी है। इस दृष्टि से यदि हम प्राचीन को एक निगाह से देखें तो नवीन के प्रति हम अधिक जागरूक हो सकते हैं; मगर आज प्राचीन तो केवल अजायबघरों और पुस्तकों में ही रह गया है। तो हम कैसे अपनी तुलना उससे करें और उसकी अच्छाइयों को नवीन में धारण कर सकें। इसलिये प्राचीन की शोध आवश्यक है। उसका पुनःनिर्माण जितना आवश्यक नहीं उतना उसका पुनः अवलोकन आवश्यक है। शोध-पत्रिका से यदि हम अपने प्राचीन सौन्दर्य का दर्शन कर सकेंगे तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

उदयपुर]	—देवीलाल सामर

'शोध-पत्रिका' और उसका यह प्रथम अंक

प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान, उदयपुर विद्यापीठ, 'शोध-पत्रिका' के इस प्रथम अंक द्वारा अपने क्षेत्र में एक नई प्रवृत्ति को प्रारम्भ कर रहा है। राजस्थान के प्रमुख भूभाग मेवाड़ में शोध-कार्य करने के लिये सन् १९४५ में जो योजना बनाई गई थी उसमें एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी स्वीकृत किया गया था, किन्तु तब इसका प्रकाशन नहीं हो सका।

सन् १९४९ के अन्तिम चरण में 'शोध-पत्रिका' की रूपरेखा तैयार की गई और निश्चय किया गया कि शीघ्र ही 'शोध-पत्रिका' प्रारम्भ कर दी जाय। बाद में विद्वानों से इस कार्य में सहयोग मांगा गया और उत्तर में देश के कई प्रमुख विद्वानों ने इसका समर्थन कर हमें इस कार्य में बराबर सहयोग देते रहने का वचन दिया, फलस्वरूप इसका कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

जिन माननीय विद्वानों ने पत्रिका के विभिन्न विभागों का सम्पादन-कार्य स्वीकृत किया उसके लिये वे 'शोध-संस्थान' और समस्त शोध-क्षेत्र की ओर से अभिनन्दनीय एवं धन्यवाद के पात्र हैं। कुछ अनिवार्य कठिनाइयों के कारण इस अंक को हम जैसा चाहते थे वैसा पाठकों के सामने नहीं रख पा रहे हैं। इसमें रही कमियों का जिम्मेवार मैं हूँ—पत्रिका के अन्य सम्पादक नहीं। भविष्य के लिये हमारा सुदृढ़ प्रयत्न है कि 'शोध-पत्रिका' सर्वांगीण सुन्दर प्रकाशित होती रहे।

'विद्यापीठ मुद्रणशाला' की प्रमुख मुद्रणमशीन के चालू नहीं होते हुए भी 'हिन्द प्रेस' द्वारा इस अंक का समय पर प्रकाशन संभव हुआ है। भविष्य में पत्रिका का मुद्रण उन्नत होगा ही।

देश के मान्य और नवोदित विद्वानों से प्रार्थना है कि वे कृपया 'शोध-पत्रिका' को भी अपना कर्म-क्षेत्र चुनें और इसके द्वारा देश के-मुख्यतया

राजस्थान के अनन्त ज्ञान-भण्डार को आलोकित करने में एक सामुहिक प्रयत्न प्रारम्भ करें।

अगणित सरस्वती-पुत्रों की लिखित रस धारा से आप्लावित हमारा साहित्य उत्कृष्ट है, शत-शत युगों के संघर्षों से निर्मित हमारी संस्कृति महान् है और हमें विश्वास है यह पत्रिका अपने छोटे किन्तु सम्मिलित और सबल प्रयत्न द्वारा जननी जन्मभूमि के लिये परम श्रेयस्कर सिद्ध होगी।

उदयपुर] —पुरुषोत्तम मेनारिया

समीक्षा—

मेवाड़ की कहावतें भाग १

[सम्पादक-पं० लक्ष्मीलाल जोशी एम ए, एल-एल बी । भूमिका लेखक-डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल एम ए । प्रकाशक प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान, उदयपुर विद्यापीठ, उदयपुर । १० × १० / १६ आकार के १० + १६ + २०० + ४ पृष्ठ । मूल्य दो रुपया]

उदयपुर विद्यापीठ का प्राचीन साहित्य शोध संस्थान प्राचीन साहित्य, लोक-साहित्य तथा इतिहास के उद्धार का प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। कहावतें और मुहावरे भी जन-जीवन के अनिवार्य और अविच्छिन्न अंग हैं अत. लोक-साहित्य के अन्तर्गत उनका भी संग्रह, सम्पादन और प्रकाशन वांछनीय तथा अभिनन्दनीय है। इस दृष्टि से प्राचीन साहित्य शोध संस्थान के अन्तर्गत "राजस्थानी कहावत माला" का प्रारम्भ—जिसका मेवाड़ की कहावतें, भाग १ प्रथम पुष्प है—हमारे लिये स्वागत की वस्तु है।

मेवाड़ की कहावतों के इस पहिले भाग में लगभग एक हजार मेवाड़ी कहावतें संग्रहीत हैं। विषय और भाव की दृष्टि से कहावतों के वर्गीकरण की ओर भी ध्यान दिया गया है। प्रत्येक कहावत के बाद उसका भावार्थ लिख दिया गया है तथा अन्त में अक्षरानुक्रम से विशेष पारिभाषिक शब्दों की अर्थ सहित एक तालिका भी दे दी गई है।

देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान में विविध जनपदों की जनपदीय संस्कृति भाषा और साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस बात की महती आवश्यकता है कि देश के प्रत्येक जनपद का ध्यान अपने इस अमूल्य रत्न भाण्डार के अनुसन्धान की ओर आकृष्ट हो।

मेवाड़ की कहावतों के इस प्रथम संग्रह का मूल्य बहुमुखी है। मेवाड़ के निवासियों को जहां अपनी बोली की कहावतों का इसके द्वारा एक अच्छा और उपादेय संग्रह प्राप्त हुआ है वहाँ हिन्दी के विशाल वाङ्मय के कोष में भी इसके द्वारा एक अच्छी वृद्धि हुई है। भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि से तो यह और भी बड़े काम की चीज है। मेवाड़ी बोली में कोई अपना प्राचीन साहित्य नहीं है क्योंकि मेवाड़ी बोली कभी साहित्य की भाषा नहीं रही। ऐसी अवस्था में मेवाड़ी बोली के भाषागत अध्ययन का मुख्य अवलम्ब मेवाड़ के लोक-साहित्य के ऐसे अच्छे और प्रामाणिक संग्रह संस्करण ही हैं।

मेवाड़ की संस्कृति, सामान्य जन-मानस तथा अनेक लोकाचारों का भी इन कहावतों तथा मुहावरों से परिचय मिलता है। किन्तु इस दृष्टि से इस संग्रह में एक बात खटकती है। यत्र तत्र बिखरे हुए अनेक प्रादेशिक सन्दर्भों से युक्त प्रसंगों का स्पष्टीकरण न होने से मेवाड़ेत्तर प्रदेश-निवासियों के लिये उसका यथेष्ट आनन्द और आस्वादन कठिन हो जाता है। 'राजस्थानी कहावत माला' के अन्य पुष्पों में तथा प्रस्तुत संग्रह के भी पुनर्मुद्रण में यदि इस ओर विशेष ध्यान दिया जा सके तो इन कहावतों की उपयोगिता कई गुनी बढ़ जायगी।

प्रस्तुत कहावत संग्रह के अन्त में संग्रह में संगृहीत कहावतों में प्रयुक्त कुछ जनपदीय शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। यह सुविधा जनक है। किन्तु यदि प्रत्येक कहावत के बाद उसका भावार्थ दिये जाने के पूर्व ही शब्दार्थ भी दिये जाते तो वे अधिक अच्छे रहते।

यदि अनेक ऐसे जनपदीय शब्दों की जो संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के तत्सम शब्दों के रूपान्तर हैं व्युत्पत्ति आदि के उल्लेख भी इन संग्रहों में दें तो बोली के अध्ययन की दृष्टि से भी ये संग्रह महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकेंगे।

इन दो तीन सुझावों के साथ मैं उदयपुर विद्यापीठ और विद्वान सम्पादक के इस सत्प्रयास का अभिनन्दन करता हूँ।

विपिन बिहारी बाजपेयी
एम० ए०, साहित्यरत्न

राजस्थान के ऐतिहासिक प्रवाद, प्रथमशतक

[सम्पादक—प्रो॰ कन्हैयालाल सहल एम॰ ए॰, अध्यक्ष हिन्दी संस्कृत विभाग, बिड़ला कॉलेज, पिलानी (जयपुर)। स्वयं सम्पादक द्वारा प्रकाशित। २०×१० आकार के १८+१२१ पृष्ठ। मूल्य सवा दो रुपया] १६

पिलानी के प॰ सहलजी कुछ वर्षों से राजस्थानी साहित्य के संग्रह-कार्य में दत्तचित्त हैं। यह उनकी राजस्थानी साहित्य के प्रति सच्ची लगन का ही फल है कि थोड़े ही समय में उन्होंने अपने यहां अच्छा संग्रह कर लिया है और अब वे इसके सम्पादन की ओर अग्रसर हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में १०१ ऐतिहासिक प्रवादों का संग्रह और संपादन किया गया है। प्रत्येक प्रवाद एक 'पद्योक्ति' पर आश्रित है और अपने साथ एक मार्मिक कहानी रखता है। पद्य की भाषा मूल राजस्थानी ही रहने दी गई है किन्तु गद्य सहलजी का अपना है। राजस्थान के ग्रामीण समाज में ये प्रवाद एक प्राणवान शक्ति के रूप में वर्तमान हैं और बड़े उत्साह से कहे और सुने जाते हैं।

इन प्रवादों से राजस्थानी संस्कृति का स्पष्ट परिचय मिलता है तथा अध्ययन के लिये एक नया क्षेत्र खुलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका बड़ा मूल्य है। इतिहासकारों को चाहिए कि वे इन्हें अपनी कसौटी पर कसें और इतिहास के अपुष्ट अंगों की पुष्टि करें। प्रस्तुत पुस्तक से राजस्थान के कई अज्ञात साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का भी परिचय प्राप्त होता है। इस दृष्टि से पुस्तक की भूमिका को अधिक सदाशय बनाया जाता तो उचित होता।

इन प्रवादों से जहां राजस्थान वासियों मुख्यतः क्षत्रियों की वीरता, धीरता, त्याग और प्रेम में अडिगता का परिचय मिलता है वहां उनकी हठवादिता और आपसी फूट का भी परिचय मिलता है।

प्रवादों में प्रयुक्त पद्यों का अर्थ कहानियों में स्पष्ट कर दिया गया है किन्तु ठेठ राजस्थानी शब्दों का अर्थ यदि फुटनोट के स्थान पर दे दिया जाता तो उनका अध्ययन करने में अधिक सुविधा मिलती।

यह साहस का ही कार्य है कि सम्पादक ने पुस्तक का प्रकाशन व्यक्तिगत किया है। किन्तु इससे अधिक दुःख की बात और क्या हो सकती है कि सम्पादकों को यह भार स्वयं उठाना पड़े। अविलम्ब ऐसे प्रबन्ध की आवश्यकता है जिससे प्रकाशन के लिए सम्पादकों को कष्ट नहीं उठाना पड़े और अधिकाधिक राजस्थानी साहित्य प्रकाश में आता रहे।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये प॰ सहलजी अभिनन्दन के पात्र हैं। हमें आशा है कि इस ओर वे अधिकाधिक गतिशील होते रहेंगे।

—पुरुषोत्तम मेनारिया, साहित्यरत्न

प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान—

परिचय और प्रगति-विवरण

स्थापना- वि. सं. १९९८ में उदयपुर विद्यापीठ के अन्तर्गत राजस्थान में, मुख्यतः मेवाड़ में शोध-कार्य करने के लिये 'शोध-संस्थान' की स्थापना हुई।

उद्देश्य- १. प्राचीन साहित्य की खोज, संग्रह और सम्पादन का कार्य करना। २- लोक-साहित्य का संग्रह और सम्पादन करना। ३- इतिहास संस्कृति और ललित कलाओं के अनुसंधान का कार्य करना।

उद्देश्यपूर्ति के साधन- उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये १- प्राचीन साहित्य विभाग। २. लोक-साहित्य विभाग ३- पुरातत्व विभाग, ४-अध्ययनगृह और संग्रहालय तथा ५- सामान्य विभाग की स्थापना की गई है जिनके द्वारा सम्बन्धित प्रवृत्तियों का संचालन किया जाता है।

संग्रह और कार्य-योजना- मेवाड़ में अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिये शोध-संस्थान द्वारा दस वर्षीय योजना सन् १९४९ से लागू की गई है। प्रति दो वर्ष में मेवाड़ के एक जिले के सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य, लोक साहित्य और पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री की खोज और संग्रह-कार्य द्वारा मेवाड़ के पांचों जिलों का कार्य समाप्त करने का प्रबन्ध किया गया है। मेवाड़ राजस्थान का ऐसा भूभाग है जहाँ इस प्रकार की सामग्री बहुतायत से मिलती है और वह धीरे २ नष्ट होती जा रही है। अतः इस ओर अविलम्ब ध्यान देने की आवश्यकता समझी गई है।

शोध संस्थान का संक्षिप्त प्रगति-विवरण इस प्रकार है—

राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज-इसका दूसरा विवरण ग्रन्थ, सम्पादक श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा, फाइन आर्ट प्रेस अजमेर में है। आशा है यह आगामी माह में प्रकाशित हो जायगा। इसमें खोज के आधार पर नवीन १८३ प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण हैं।

विवरण ग्रंथ भाग ३, सम्पादक श्रीयुत् उदयसिंह भटनागर एम० ए० रिसर्च फेलो और भाग ४, सम्पादक श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा तैयार हो चुके हैं

चारण गीत माला- इसके अन्तर्गत १०६० गीतों का संग्रह हो चुका है। विभिन्न स्थानों से भ्रमण द्वारा गीत प्राप्त किये गये तथा उनका विषयवार वर्गीकरण किया गया। प्रथम, द्वितीय भागों का सम्पादन-कार्य भी प्रारम्भ हो गया है। प्रति भाग में लगभग १०० गीत रहेंगे।

पृथ्वीराज रासो सम्पादन-कार्य- प्रसिद्ध रासो मर्मज्ञ श्रीयुत कविराव मोहनसिंह के सम्पादकत्व में अब तक इसके ७१ प्रस्तावों का कार्य समाप्त हो चुका है। रासो की कुछ प्राचीन प्रतियां उपयोग के लिये और मिली हैं।

राजस्थानी कहावत माला- इसकी प्रथम पुस्तक 'मेवाड़ की कहावतें भाग १ सम्पादक श्रीयुत प० लक्ष्मीलाल जोशी एम० ए०, एल० एल० बी०, अभी हाल ही में प्रकाशित हुई है। दूसरी प्रतापगढ़ की कहावतें, सम्पादक श्रीयुत रतनलाल महता बी०ए०, एल० एल० बी० का कार्य पूरा हो चुका है। तीसरी पुस्तक राजस्थानी भीली कहावतें सम्पादक श्रीयुत पुरुषोत्तम मेनारिया, साहित्य-रत्न का कार्य समाप्तप्रायः है। इसमें लगभग १००० भीली कहावतों का समावेश किया गया है। चतुर्थ भाग मेवाड़ की कहावतें भाग २ के लिये संग्रह कार्य चालू है।

राजस्थानी लोक गीत माला- इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत १२६ नवीन गीतों का संग्रह हुआ है। अब तक सम्पादनार्थ ५१६ गीतों का संग्रह हो चुका है।

डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा निबन्ध संग्रह- सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता महोदय ओझाजी ने अपने समस्त निबन्धों का संग्रह शोध संस्थान को प्रकाशन के लिये प्रदान किया है। प्रथम भाग प्रेस में दिया जा रहा है। अभी निबन्ध चार भागों में प्रकाशित होंगे।

महाकवि सूर्यमल आसन- इस आसन से तृतीय अभिभाषक श्रीमान् डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या एम० ए०, डी० लिट्० अध्यक्ष भाषातत्त्व विभाग कलकत्ता विश्वविद्यालय के तीन भाषण 'राजस्थानी भाषा' विषय पर ता० २७, २८ और २९ जनवरी सन् ५७ में समारोह हुए। भाषण पुस्तकाकार प्रकाशित किये जा रहे हैं।

चतुर्थ संपादक प्रसिद्ध भारतीय अन्वेषक श्रीमान् मुनि जिनविजयजी भारतीय विद्याभवन, बम्बई मनोनीत हुए।

मुनि जिन विजय अभिनन्दन ग्रंथ- श्रीमान् मुनिजी को उनके द्वारा की गई अमूल्य और महत्वपूर्ण सेवाओं के सम्मान में अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। ग्रन्थ की रूपरेखा विद्वानों की सेवा में प्रेषित की जा रही है। आशा है सभी क्षेत्रों से इस महत्वपूर्ण सुकार्य में सहयोग मिलेगा और यह योजना सफल होगी।

शोध-पत्रिका- चैत्र संवत २००४ (मार्च सन् १९४७) से इसका प्रकाशन प्रारंभ किया गया है। प्रथम अंक पाठकों के सामने है।

संग्रह-कार्य- शोध संस्थान का संग्रहालय प्रगति पर है। कुछ ही समय में ६२५ हस्तलिखित ग्रंथ एकत्रित किये गये हैं। साथ ही प्राचीन चित्र, प्राचीन सिक्के, ऐतिहासिक पत्र आदि एकत्रित किये जारहे हैं। शोध-संस्थान के कर्मठ सभासदों द्वारा मेवाड़ के गांवों में भ्रमण द्वारा प्राचीन साहित्य और लोक-साहित्य का संग्रह किया जा रहा है।

मार्च, सन् १९४७. —पुरुषोत्तम मेनारिया
मंत्री

प्राप्ति स्वीकार—

[निम्नलिखित पुस्तकों के लिये उनके दाताओं को हार्दिक धन्यवाद दिया जाता है। पुस्तकें 'शोध-संस्थान' के पुस्तकालय में रक्खी गई हैं। —प्रबन्ध सम्पादक]

क—श्रीमान् प्रो० तान युन सान, चीना भवन, शान्तिनिकेतन द्वारा-

(१) जनता के तीन सिद्धान्त [डॉ० सनयातसेन] (२) चीन का आधुनिक इतिहास [प्रो० तान युन सान] (३) China, India and the war Pt. I [वही]. (४) Cultural Interchange between India and China [वही] (५) My dedication to Guru Deva Tagore [वही]

ख—श्रीमान् सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या एम. ए., डी. लिट. कलकत्ता द्वारा—

(१) अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३४वें अधिवेशन के राष्ट्र-भाषा परिषद् के सभापति का भाषण [डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या एम. ए., डी. लिट.] (२) A Roman alphabet for India [वही] (३) Languages and the Linguistic Problem [वही]

ग—श्रीमान् विजयसिंह नाहर कलकत्ता द्वारा—

(१) जैन लेख संग्रह द्वितीय खण्ड [बाबू पूर्णचन्द्र नाहर] (२) जैन लेख संग्रह तृतीय खण्ड [वही] (३) प्रबन्धावली [वही] (४) श्री जम्बूचरित्र और परदेशी राजा की चौपाई [श्री शिताबचन्दजी नाहर] (५) श्री साधु वंदना एवं रौलरी नववाड़ [वही]

प्रकाशक-ग०गां० शांत-संस्थान, विद्यापीठ उदयपुर
मुद्रक-विद्यापीठ प्रिंटिंग प्रेस, उदयपुर

शोध-पत्रिका

प्राचीन साहित्य शोध संस्थान उदयपुर विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका

भाग १, अङ्क ३



आश्विन सं० २००४

सितम्बर सन् १९४७

सम्पादक मण्डल

[illegible]

डा. दशरथ शर्मा, एम.ए., डी.लिट्.

मोतीलाल मेनारिया एम.ए. [illegible]

[illegible]

विषय-सूची

भाग १, अङ्क ३.

आगामी अङ्कों के लिये स्वीकृत कुछ निबन्ध-

(१) ढोला मारू की कहानी का भोजपुरी रूपान्तर [श्रीयुत् डॉ. उदयनारायण तिवारी. एम. ए., डी. लिट्]

(२) प्राचीन भारत में पुस्तकालय [श्रीयुत् डॉ. बी. भट्टाचार्य. एम. ए., पी एच. डी.]

(३) अमझेरा-युद्ध २६ (नवम्बर सन् १७२८ ई.) पर नवीन प्रकाश [श्रीयुत् महाराज कुमार डॉ. रघुवीरसिंह एम. ए, डी लिट्., एल एल. बी.]

(४) भारतीय नृत्य की मुद्राएं [श्रीयुत् देवीलाल सामर, एम. ए.]

(५) उदयपुर का सचित्र विज्ञप्ति पत्र [श्रीयुत् भंवरलाल नाहटा]

(६) पृथ्वीराज रासो सम्बन्धी कुछ जानने योग्य बातें [श्रीयुत् उदयसिंह भटनागर एम ए]

(७) भोजपुर अथवा भोजकटपुर [श्रीयुत् पं. सूर्यनारायण व्यास]

शोध-पत्रिका

[प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान, उदयपुर विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका]

भाग १ | उदयपुर, [राजपूताना] | अंक ३

[१४] राव सुर्जन हाड़ा

[श्रीयुत् दशरथ शर्मा, एम. ए डी. लिट्]

बूँदी के प्रतापी एवं प्रख्यात नरेशों में राव सुर्जन का विशेष स्थान है। उसके पिता अर्जुन ने चित्तौड़ के दूसरे घेरे में वीर गति प्राप्त की थी[१]। उसकी माता का नाम जयन्ती था। यह पुत्र के राज्यकाल में बहुत समय तक जीवित रही। उसकी आज्ञानुसार कार्य करना सुर्जन

१— देखिये टॉड राजस्थान (Routledge का संस्करण), खण्ड २, पृष्ठ ३८१. डॉ मथुरालाल शर्मा ने अर्जुन को सुल्तानसिंह का ज्येष्ठ पुत्र मानने में गलती की है। अर्जुन के पिछले पांच पूर्वजों के नाम सुर्जन के समय में रचित 'सुजन चरित' में इस प्रकार दिये हैं —"देव का समरसिंह, समरसिंह का नरपाल, नरपाल का हमीर, हमीर का वरसिंह, वरसिंह का भारमल्ल, और भारमल्ल का पुत्र नर्मद था। नर्मद की पुत्री का नाम धारा और पुत्र का अर्जुन था।" (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सं १९९९ कार्तिक, पृष्ठ ९१८), टॉड ने भी अर्जुन को नर्मद का पुत्र माना है।

अपना कर्त्तव्य समझता था[१]।

राव सुर्जन सन् १५३३ में गद्दी पर बैठा। उस समय बूँदी की स्थिति बहुत निर्बल थी। राज्य के कई भागों पर मुसलमानों का और कई पर सोनिगरों का अधिकार हो चुका था। ऐसे समय मे मेवाड़ के राणा उदयसिंह के आश्रित होकर अपने राज्य को वापिस लेना वास्तविक बुद्धिमत्ता थी[२]।

सुर्जन ने इस कार्य के लिये बहुत बड़ी सेना तैयार की[३]। इसमें प्रायः सभी हाड़ा जागीरदार सम्मिलित थे। इनकी सहायता से न उसने केवल बूँदी को ही भय रहित कर दिया, वरन् दूसरे भी अनेक दुर्ग जीते। रणथंभोर का दुर्ग एक सूर सरदार से सुर्जन को मिला था। तारीखे बदायूनी मे इस सरदार का नाम संग्रामखां, तारीखे अकबरी में हिजाजखां और तबकाते अकबरी में हाजीखां लिखा है। अन्तिम नाम सम्भवतः ठीक है। बीकानेर, जोधपुर और उदयपुर के इतिहासों में इसकी पर्याप्त प्रसिद्धि है।

रणथंभोर का इलाका हाथ आने से सुर्जन की शक्ति और उसके साधनों में खूब वृद्धि हुई। इससे लाभ उठा कर उसने शीघ्र ही कोटे पर आक्रमण किया। वंशभास्कर में कोटे के युद्ध का विशद् वर्णन है। उसके अनुसार सुर्जन ने केसरखाँ और डोकरखां नाम के पठानो को मार कर कोटे पर अधिकार किया। अन्य कई पठान सरदार भी युद्ध में काम आये[४]।

किन्तु केसरखां और डोकरखां कौन थे? यह एक विचारणीय प्रश्न है। उनके लिये केवल यह कहना कि वे पठान सरदार थे पर्याप्त नहीं है। 'सुर्जन चरित' में कोटे-विजय के सम्बन्ध मे निम्नलिखित अशुद्ध श्लोक है:—

'कोटा' रुयं कूटयन्त्रप्रकटनपटुभिः कारुनिर्दारुणं तं
दुर्गं भर्गावलेद्र (?) प्रतिभटमटवी दुर्गमक्रूरमार्गम्।
विद्रुत्य द्रावि दूरं हरिरिव नरकं मालवानामधीशं
विक्रान्त्या स्फीतकान्त्या गुणगरिमभृतामग्रणीरग्रहीद्यः॥ ५

इसमें तृतीय पंक्ति के रेखाङ्कित शब्द 'मालवानामधीशं' से स्पष्ट है कि सुर्जन को, किन्हीं सामान्य सैनिकों का नहीं, मालवे के सुल्तान का सामना करना पड़ा था। सम्भव है कि केसरखां और डोकरखां उसी की ओर से नियुक्त दुर्गाध्यक्ष हो।

१—'सुर्जन चरित' १४, २
२—वही, १३, ६७
३—वही, १३, ६८
४—'वंशभास्कर', तृतीय भाग, पृष्ठ २२३८–२२४१
५—'सुर्जन चरित्र' १३, ७६.

कोटे की विजय का ठीक सम्वत् तो ज्ञात नहीं है, किन्तु बहुत सम्भव है कि यह अवसर सुर्जन को मालवे के प्रतापी शासक शुजातखाँ की मृत्यु के बाद मिला हो। सन् १५४५ में बाज बहादुर मालवे की गद्दी पर बैठा। वह आनन्दी जीव था। उसकी प्रेयसी रूपमती की कथा मध्यकालीन भारतीय इतिहास में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। उसकी दुर्बलता का लाभ उठाकर सुर्जन ने कोटे पर आक्रमण किया होगा। ऊपर उद्धृत श्लोक से प्रतीत होता है कि दुर्ग कुछ दिन तक घिरा रहा, मालवेश बाज बहादुर ने उसे सहायता पहुँचाने का विफल प्रयत्न किया, और अन्त में सुर्जन ने उसे अपने शौर्य और अस्त्र शस्त्रों के बल से जीत लिया।

पठानों के बाद खीचियों की बारी आई। खीची रायमल को हराकर सुर्जन ने सीसवाली एवं बड़ौद के आस पास के परगने वापिस बूँदी राज्य में मिला लिये[1]। पितृक्रमागत बूँदी के सिवाय कोटे और रणथभोर के प्रबल दुर्ग भी उसके हाथ लग चुके थे। सुर्जन का प्रताप-सूर्य उस समय अपने शिखर पर पहुँच चुका था, जब बादशाह अकबर ने रणथभोर पर आक्रमण किया।

इस हमले की विफलता मुसलमान इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं। 'तबकाते अकबरी' के अनुसार हबीब अलीखाँ ने रणथभोर को सन् १५५६ में बादशाही आज्ञा से घेरा, किन्तु उसे विफल होकर लौटना पड़ा[2]।

सन् १५६४ में अकबर ने स्वयं शासन डोर सभाली, उसकी बुद्धिमत्ता और कूटनीति की बहुत कम भारतीय सम्राट अब तक बराबरी कर सके हैं। मुसलमानों में सम्भवतः राज्यभक्ति की मात्रा विशेष न थी। हरेक स्वयं सुल्तान बनने के लिये इच्छुक रहता था। दास भी बड़े राजकुमारों की बराबरी करते थे। इसी कारण लगभग सवा तीन सौ वर्ष के अर्से में अनेक राजवंश नष्ट हो चुके थे। अकबर स्वयं का भी राज्य सुरक्षित न था। अतगैग और मिर्जा, दोनों ही राज्य की अभिलाषा कर रहे थे। ईरानी और तुर्क सरदारों में परस्पर घोर वैमनस्य था। इनके कुचक्रों से बचने और भारत में एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने के लिए यह आवश्यक था कि वह वीर राजपूत जाति का सहयोग प्राप्त करे।

कछवाहों और राठौड़ों ने शीघ्र ही बादशाह की अधीनता स्वीकार करली। किन्तु जब तक मेवाड़ के वीर सिसोदिये अकबर की नीति का विरोध करने के लिये तैयार रहे तब तक उसकी पूर्ण सफलता में पर्याप्त सन्देह था। राणा सांगा के वंशज राजस्थान में विशेष स्थान रखते थे।

१—'वंशभास्कर', भाग ३, पृष्ठ २२४१

२—"इलियट एण्ड डाउसन," भाग ५, पृष्ठ २६०, "अकबर नामा", अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड २ पृ० १३३, तबकात०, अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द २, पृ० २३४।

उन्हें अपनाना या सर्वथा पराजित करना आवश्यक था। संभवतः इसी कारण अकबर ने सन् १५६७ में चित्तौड़ पर आक्रमण किया।

सन १५६७ के द्वितीय मास के अन्त में वीराङ्गनाओं की धधकती चिताओं के अवशेषों का दर्शन करती हुई एवं राजपूत वीरो के शवों पर से होती हुई मुगल-वाहिनी चित्तौड़ में घुस पड़ी। हजारों निरपराध स्त्री पुरुष भी तलवार के घाट के उतरे। किन्तु इतने ही से वीर सिसोदियों के विरोध की कमर न टूटी। उन्होंने चित्तौड़ के हाथ से निकल जाने पर भी अकबर की अधीनता स्वीकार न की। इधर-उधर जिन दुर्गों में वे मुगलों का सामना करते रहे उनमें से मुख्य स्थान रणथंभोर का था।

'सुर्जन चरित' में लिखा है कि अकबर के सेनापतियों ने तेरह बार रणथंभोर पर विफल हमले किये। अन्त में स्वयं अकबर को मुगल सैन्य का सेनापतित्व ग्रहण करना पड़ा[1]। दुर्ग के रोध का समाचार सुनते ही सुर्जन अपनी सेना सहित रणथंभोर वापिस आया। पहले दिन के युद्ध में दोनो ओर की फौज के बहुत से आदमी काम आये। किन्तु अकबर सुर्जन के शौर्य को देख कर प्रसन्न हो गया और दूसरे दिन प्रातःकाल ही अपने एक सचिव को सुर्जन से मिलने के लिये भेजा[2]। सुर्जन उसे अभ्यर्थनापूर्वक अपनी सभा मे ले गया। तब मंत्री ने उससे कहा "मै बादशाह की आज्ञा से तुम्हारे पास आया हूं। बादशाह तुम्हारे शौर्य से प्रसन्न हैं। तुम रणथंभोर बादशाह को दो और उसके बदले में गंगा के तट पर स्थित काशी, यमुना के कारण शोभायमान मथुरा; नर्मदा के पवित्र विषय या अन्य किसी स्थान पर अच्छा राज्य ग्रहण करो। अपने से अधिक बलवान् से हठपूर्वक झगड़ा करना ठीक नहीं है। यदि विशेष झगड़ा किया तो तुम्हारी वही दशा होगी, जो जैत्रसिंह के पुत्र (हम्मीर) की हुई थी।" सुर्जन ने तीर्थ गमन की इच्छा से अकबर की बात स्वीकार की।[3]

टाड-रचित राजस्थान में दी हुई कथा इससे कुछ भिन्न है। उसमें लिखा है—रणथंभोर पर अकबर ने जल्दी ही ध्यान दिया था, और स्वयं उस पर घेरा डाला। किले टूटने की आशा के विना जब वह उसकी अभेद्य दीवारो के सामने कुछ समय तक रह चुका था, तब आमेर के भगवानदास और उससे अधिक प्रसिद्ध राजा मान ने जिन्होने केवल अकबर की अधीनता ही स्वीकार न की थी, उससे वैवाहिक सम्बन्ध भी किया था—यह निश्चय किया कि चित्तौड़ की जागीर के रूप में रणथंभोर रखने की प्रतिज्ञा के विरुद्ध कार्य करने के लिये वे

१—सर्ग १६, श्लोक ११

२—वही, सर्ग १७, श्लोक ५४, सर्ग १८, श्लोक १

३—वही, सर्ग १८ श्लोक २-२२ (देखो लेखक का लेख 'सुर्जन चरित' नागरी प्रचारिणी पत्रिका सम्वत १९९६, पृ० २२०-२२१)

सुर्जन हाडा को प्रभावित करेंगे। युद्ध करते समय भी राजपूत शिष्टाचार नहीं भूलते। अत राजा मान किले मे जा सका और बादशाह उसके साथ गुर्जबरदार के वेष मे गया। जब वे बातचीत कर रहे थे, राव के एक चाचा ने बादशाह को पहचान लिया। आदर के कारण उत्पन्न होने वाली भावना के वेग में उसने बादशाह के हाथ से गुर्ज लेली और उसे किले के शासक की गद्दी पर बैठा दिया। अकबर की हाजिरजवाबी ने उसका साथ न छोड़ा, और उसने कहा, "अच्छा राव सुर्जन अब क्या करना है ?," इसका उत्तर राजा मान ने दिया, "यही कि राणा का पक्ष छोड़े, रणथभोर हमे सौंपे, और ऊची इज्जत और ओहदे सहित बादशाह की सेवा स्वीकार करे।" जो घूस दी गई वह वास्तव मे शानदार थी—बावन जिलों का शासन, जिनकी आय के विषय में किसी तरह की तहकीकात न की जायगी। दूसरो की तरह सुर्जन के लिये आवश्यक था कि वह भी बादशाही सेवा के लिए कुछ सिपाही रखे, या चाहे तो वह दूसरी शर्तें भी पेश करे, जिनको बादशाह उसी तरह मानने के लिये तय्यार था।

आमेर के राजकुमार ने उसी स्थान पर यह सन्धिपत्र तैयार करवाया, जिसकी शर्तें इस विषय मे हिन्दू भावना की द्योतक है—

(१) बूँदी के राजा राजपूतों के लिये अपमानजनक बादशाही महल मे डोला भेजने की प्रथा से मुक्त रहेंगे।

(२) उन्हें जजिया कर न देना पड़ेगा।

(३) बूँदी के राजा अटक पार करने के लिये बाध्य न किये जायेंगे।

(४) बूँदी के राजाओं के लिये यह आवश्यक न होगा कि वे नोरोज में दुकान लगाने के लिये अपनी पत्नियों या अन्य सम्बन्धिनी स्त्रियों को भेजे।

(५) दीवाने आम में उन्हें सशस्त्र जाने का अधिकार होगा।

(६) उनके पवित्र स्थानों का आदर किया जायगा।

(७) उन्हे किसी हिन्दू राजा के नेतृत्व म न रक्खा जायगा।

(८) उनके घोड़ों पर बादशाही दाग न लगेगा।

(९) वे राजधानी के बाजारों मे लाल दरवाजे तक नक्कारा बजवाते जा सकेंगे और बादशाह के सम्मुख जाने पर उन्हें सिजदा न करना पड़ेगा।

(१०) जैसे बादशाह की राजधानी दिल्ली है, वैसे बूँदी हाडों की राजधानी रहेगी, और उन्हें इसे बदलने के लिये बाध्य न किया जायगा[१]।

१—Routledge का संस्करण, खण्ड २, पृष्ठ ३८२-३

डॉ. वी. ए. स्मिथ और कोटे के इतिहास के लेखक डॉ. मथुरालाल शर्मा ने टॉड के वर्णन को सत्य माना है। किन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं है। 'सुर्जन चरित' के वर्णन से निश्चित है कि सुर्जन को ५२ नहीं; अपितु तीन जिले दिये गये थे। अकबर के गुर्जवरदार होकर अन्दर जाने की कथा रोचक होते हुए भी इतिहास की दृष्टि से असत्य है। ऐसा हुआ होता तो सुर्जन का कवि चन्द्रशेखर शायद ही इस घटना को छोड़ता। नेणसी की ख्यात से निश्चित है कि कछवाहे राजा भगवानदास ने सन्धि की बातचीत में सहायता दी थी। किन्तु जिस सचिव का वर्णन 'सुर्जन चरित' में है, वह भगवानदास या मानसिंह नहीं, हुसेन कुलीखां था[1] जिसे बाद में खांजहाँ की उपाधि मिली और जो पीछे पंजाब और बंगाल जैसे महत्वपूर्ण प्रांतों का सूबेदार नियुक्त हुआ। सन्धि की शर्तों में भी कुछ अत्युक्ति है। जजिया कर तो कम से कम सन् १५६४ मे छोड़ दिया गया था। अतः १५६८ में विशेष रूप से उसे छुड़वाने की आवश्यकता न थी।

'सुर्जन चरित' आदि मे वर्णित किले मे की बातचीत से पूर्व जो बातचीत हो चुकी थी और जो घटनाएँ घटी थी उनकी जानकारी हमें मुसलमान इतिहासकारो से मिलती है, उन्हींके आधार पर 'मआसिरुल् अमरा' में लिखा है:- कहते हैं कि रमजान के अन्तिम दिन बादशाह ने कहा था कि यदि दुर्ग वाले आज अधीनता स्वीकार न करेंगे तो कल दुर्ग गोले और गोलियों का निशान बनेगा। इससे सुर्जन डर गया और दरबारियों[2] से प्रार्थना कर अपने पुत्रों-दूदा और भोज को बादशाह के पास भेजा। दरबार मे आने पर दोनो को खिलअत पहनने की आज्ञा हुई। इनके साथी ने समझा कि सुर्जन के पुत्रो को पकड़ने की आज्ञा हुई है। उसने भगवंतदास के एक नौकर.. के ऊपर तलवार चलाई ..। कान्ह शेखावत के पुत्र पूरणमल को दो मनुष्यो के साथ घायल किया और शेख बहाउद्दीन बदायूनी को तलवार की चोट से दो टुकड़े कर दिया। इसी समय मुजफ्फरखा के एक नौकर ने उसे मार डाला। इस घटना से सुर्जन के पुत्र बडे लज्जित हुए...बादशाह ने उन्हें क्षमा कर खिलअत के अनन्तर पिता के पास भेज दिया। पुत्रों के आने पर राव सुर्जन ने कहलाया कि यदि एक सरदार यहाँ आवे तो उसके साथ मैं भी सेवा मे आऊँ। तब अकबर ने हुसेनकुलीखां को इस कार्य पर नियत किया[3]।

तीन दिन के बाद दुर्ग बादशाही नौकरो को सौंप दिया गया। सुर्जन को गढा की जागीर मिली। २० वें वर्ष गढा के बदले चुनार इसकी जागीर नियत हुआ। २२वें वर्ष सुर्जन के पुत्र दूदा ने बूँदी में बादशाह का विरोध किया। जैनखां कोकल्ताश और राव सुर्जन ने

१—अकबर नामा (अंग्रेजी) खंड २, पृ० ४६१, ४९३-४९५; तबकात० (अंग्रेजी) जिल्द २, पृ० ३५३-५।

२—शायद ये दरबारी भगवानदास और मानसिंह थे।

३—पृष्ठ ४४१-४२,

बूँदी पर विजय प्राप्त की और सुर्जन दो हजारी मनसबदार नियत हुआ। बादशाह के २५वें वर्ष में मुजफ्फर की मृत्यु पर राव सुर्जन ने विहार में भी कुछ काम किया।[1]

कुछ और बातें 'सुर्जन चरित' से मिलती है। उसमें लिखा है कि दुर्ग छोड़ने के बाद वह सेना सहित नर्मदा के किनारे गया और नर्मदा विषय के सब निवासियों को वशीभूत किया। वहाँ से वह मथुरापुरी और वृन्दावन पहुँचा। वर्षा ऋतु इस सुस्थली में बिता कर वह काशी के लिये रवाना हुआ। काशी में उसने विशाल अन्नसत्र आरम्भ किया, ब्राह्मणों को खूब दान दिया, अनेक जलाशय बनवाए, भगवान विश्वेश्वर पर मणिमय किरीट चढ़ाया और अनेक तुलादान दिये। इसी पुण्यपुरी में उसका देहावसान हुआ[2]।

द्वारका में रणछोड़जी का देवालय भी सुर्जन ने बनवाया था[3]। काशी में भी उसने बहुत से महल बनवाये[4]। टाड के कानों तक भी उसकी वदान्यता की कथा पहुँच चुकी थी। उसने लिखा है कि अपनी धर्म प्रियता, बुद्धिमत्ता, और दानशीलता के कारण उसने तमाम साम्राज्य, विशेषकर हिन्दुओं को लाभ पहुँचाया। उसके सुशासन के कारण काशी प्रांत के जन और धन दोनों सुरक्षित थे। उसने नगर को सुन्दर बनाया और भूषित किया, खास कर उस भाग को जिसमें वह स्वयं रहता था। उसने चौरासी इमारतें तय्यार करवाई और २० जलाशय बनवाए[5]।

राव सुर्जन की महारानी का नाम कनकावती था। वह राजा जगमल की पुत्री थी[6]। भोज कनकावती का पुत्र था। अन्य दो पुत्र दूदा और रायमल थे।

सुर्जन विद्वानों का भी आदर करता था। उसके कवि चन्द्रशेखर की कृति 'सुर्जन चरित' काव्य एवं इतिहास दोनों ही की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। भाषा प्रसाद गुणयुक्त है, अलङ्कारों का समुचित प्रयोग किया गया है और रस की परिपुष्टि हुई है।

राव सुर्जन की सी सर्वतोमुखी प्रतिभा राजाओं में कम मिलती है। उसने अपने शौर्य और अपनी नीति से बूँदी की दुर्बलता को दूर कर फिर उसे मजबूत राज्य बनाया। रणथंभोर का अकबर को सौंपना अवश्य उसकी कीर्ति पर कुछ धब्बा है। किन्तु तदन्तर अपने शौर्य, सुशासन और वदान्यता से उसने वह यश अर्जित किया जो महान से महान् राजाओं के लिये दुष्प्राप्य एवं स्पृहणीय वस्तु है।

१—'मआसिरुल उमरा' भाग १, पृष्ठ ४४२
२—उन्नीसवां सर्ग
३—'नैणसी की ख्यात' भाग १, पृष्ठ १११
४—वही
५—राजस्थान भाग Routledge का संस्करण पृष्ठ ३८४
६—'सुर्जन चरित' सर्ग १४ श्लोक १-२

[१५] गोगा चौहान पर एक दृष्टि

[श्रीयुत पं० झाबरमल्ल शर्मा]

गोग, गोगा अथवा गूगा चौहान समस्त राजस्थान, मध्यभारत, हरियाना-पंजाब में ही नहीं-गुजरात तक देवता की भांति पूजा जाता है। उसको केवल हिन्दू ही नहीं, कुछ मुसलमान भी 'गूगा पीर' कह कर अपनी पूजा का पात्र मानते हैं। राजस्थान के हिन्दुओं में 'पंचपीरों'¹ के नाम से एक और मानना प्रचलित है। उन 'पंचपीरों' में भी 'गोगाजी' की गणना की जाती है।

१—इन पंक्तियों के लेखक ने स्वर्गीय ठा० किशोरसिंह बार्हस्पत्य द्वारा संपादित राजस्थान रिसर्च सोसाइटी (कलकत्ता) के मुख पत्र "राजस्थान" (त्रैमासिक) में अपनी शोध का फलस्वरूप एक लेख "राजस्थान के प्राचीन ऐतिह्य" शीर्षक स्तम्भ के नीचे प्रकाशित कराया था और उसमें यह सिद्ध किया था कि पांचों पीर नहीं; प्रत्युत वीर हिन्दू-कुल समुद्भव थे। मुसलमानों से उनका कोई सबंध नहीं। उन्होंने कभी मुसलमान धर्म स्वीकार नहीं किया, वे आर्य संस्कृति के दृढ़ानुयायी योद्धा थे। वास्तव में वीर की जगह पीर शब्द केवल मुसलमानी सभ्यता की सहचारिता के कारण उनके जुझार एवं सिद्ध पुरुष (करामाती) होने से जुड़ गया जान पड़ता है। पांचो पीरो के नाम का परिचायक एक पुराना पद्य प्रसिद्ध है:—

पाबू, हरभू, राम दे, मांगलिया मेहा।
पाँचों पीर पधारज्यो, गोगाजी जेहा॥

अर्थात् पाबू, हरभू, रामदेव, मांगलिया मेहा और गोगा जैसे पांचो पीर पधारियेगा।

हिन्दू-कुल-कीर्त्ति के सम्वर्द्धक उक्त पांचो क्षात्र वीर इतिहास में अपना स्वतंत्र स्थान रखते हैं। लेखक के अन्वेषण सिद्ध विचार से समय विभागानुसार पंच वीरों (पीरो-नहीं) के नामों का क्रम इस प्रकार है—

गुजरात मे गोगाराव की प्रसिद्धि एव मानता जिस रूप म है, उसके सबध मे शोध पत्रिका के सम्पादक मण्डल के विद्वान् सदस्य प्रोफेसर श्री प० कन्हैयालालजी सहल, एम ए ने श्री मुँशी कन्हैयालाल माणिकलाल रचित Gurjar Problems के आधार पर लिखित भारतीय विद्या जनवरी सन् १६४६ से एक नोट उद्धृत कर भेजा है; जिसका सारांश यह है कि 'गोगा' चौहान को गूजर अपना एक पूर्व पुरुष मानते हैं। गुजरात मे प्रति वर्ष गोगाराव का जुलूस निकाला जाता था जो पिछले ३० वर्षों से बन्द हो गया है। वहाँ गोगाराव की एक मिट्टी की बड़ी मूर्ति बना कर जुलूस के साथ गाँव के तालाब या नदी में पधरायी जाती थी। गोगा चौहान की कहानी एक बूढ़े सुलतान के कथनानुसार यह है कि गोगा चौहान एक राजा का पुत्र था। माता के गर्भ से उसका जन्म होने के साथ ही एक साँप का जन्म हुआ था, जिसका पालन उसकी माता ने किया। गोगा बड़ा होने पर अपने सहजात भाई साप को बहुत चाहता था। जब वह साप गोगा को छोड़ कर जाने लगा, तब कह गया कि जब कभी आवश्यकता आ पड़े, तब मुझे बुला भेजना, म आऊगा और तुम्हे बचाऊगा। जब गूजर मुसलमान बन गये, तब गोगा को जाहिर 'पीर' कह कर स्वीकार कर लिया गया। अन्त मे उस बूढ़े सुलतान द्वारा साँप निकलने पर गुजरात मे गाया जाने वाला गीत भी निम्नलिखित उद्धृत किया गया है।

१ दम मुदम गुगा मांडली
दम गानो सुलतान
गुगे हेदु डेरे सेंदु
बोलन भीये नाग

२ एरे मुण्डे मातरी
नागे हाथ न पा
बिच्छु परिया ए गदला
मत खावन कायजा

३ ज्यारत आवन ज्यारती
लेणा गुगे का नाम
जिस दम गुगा जामिया
ओ सुलखाणी थाम[१]

राजपूताना मे भी गूगाजी का प्रति रूप साप समझा जाता है। लेखक ने स्वय अपने

१—Gurjar Problems by K M Munshi, भारतीय विद्या जनवरी सन १६४६ से।

(१) गोगाजी चौहान, (२) पाबूजी राठोड़, (३) मेहाजी सांखला, यही मांगलिया कहा जाता है (४) रामदेवजी तुवर और (५) हरभूजी सांखला।

अड़ोस-पड़ोस के घरों में अचानक किसी सांप के निकलने पर बूढ़ी स्त्रियों के श्रद्धामूलक शब्द सुने हैं कि:— "जय महाराज गूगा बाबा! चोखा दर्शन दिया। थारी आस्था दूध का छांटा। म्हाने तो ओजूं दर्शण मत ना दियेे।" इसके अतिरिक्त इस आशय की कहावत भी यहां (शेखावाटी) मे प्रसिद्ध है कि, किसी स्त्री ने अपने पति से पूछा "क्योजी गूगा बड़ा कि राम !" पति ने उत्तर दिया—"भोली! बडा तो जो है, वही रहेगा। किन्तु सांपों से बैर कौन करे।" इसका विश्लेषणात्मक अभिप्राय तो यही है कि बडा तो राम ही है;—वही बड़ा रहेगा, किन्तु राम को बडा बना दिया जाय तो गूगा की नाराजी होकर सांपो से दुश्मनी हो जायगी। ये सब प्रवादात्मक भावनाएं सांपो के साथ गूगा की अभिन्नत्व की ज्ञापक हैं।

प्रोफेसर सत्यकेतु विद्यालंकार डि. लिट् (पेरिस) महाशय ने अपनी पुस्तक "अग्रवाल जाति का इतिहास" के छठे परिशिष्ट की दूसरी टिप्पणी के "गूगापीर" शीर्षक लेख में लिखाहै :—

"अग्रवाल जाति का गूगा पीर के साथ विशेष संबंध है। प्रायः सभी प्रांतों के अग्रवाल गूगा को मानते हैं और भाद्र के महीने में जब गूगा का मेला लगता है, तो उसमें बडे उत्साह के साथ शामिल होते हैं। जो लोग इस अवसर पर गूगा की समाधि पर पूजा करने के लिए जा सकते हैं, वे वहां जाते हैं, जो समाधि पर लगे मेले में शामिल नहीं हो सकते, वे अपने यहां ही गूगा का सम्मान करते हैं। गूगा की पूजा के तरीके सब स्थानो पर अलग-अलग हैं। मध्य प्रान्त के नीमार नामक स्थान पर गूगा की पूजा के लिए तीस हाथ लम्बा एक डंडा लेकर इस पर कपडे और नारियल बांधे जाते हैं। श्रावण भाद्रपद में प्रायः प्रतिदिन भङ्गी लोग इस डंडे का जुलूस शहर में निकालते हैं। लोग उसके सम्मुख नारियल भेंट करते हैं। अनेक अग्रवाल उसकी पूजा के लिए सिन्दूर आदि भी देते हैं। कुछ उसे अपने घर पर विशेष रूप से निमंत्रित करते हैं और और रात भर अपने पास रखते हैं। सुबह होने पर अनेक भेंट उपहार के साथ उसे विदा दी जाती है। संयुक्तप्रान्त, बिहार, पंजाब आदि में भी गूगा की पूजा के लिए इससे मिलती-जुलती पद्धति प्रचलित है।

यह गूगा कौन था? इस सम्बन्ध में बहुत सी किम्वदन्तियां प्रचलित हैं। एक किम्वदन्ती के अनुसार उसके पिता का नाम बचा था। बचा जाति से चौहान राजपूत था। कुछ का खयाल है कि उसके पिता का नाम बचा नहीं, अपितु जेवर था। पिता की मृत्यु के बाद वह स्वयं राजा बना। उसका राज्य हांसी से गररा तक विस्तृत था। उसकी राजधानी मेहरा थी, जो गररा नदी के तट पर स्थित थी। कहते हैं कि एक झगडे मे गूगा ने अपने दो भाइयो को कतल कर दिया। इससे उसकी माता बड़ी क्रुद्ध हो गई। माता के क्रोध से बचने के लिए वह जङ्गल मे भाग गया। वहां उसने चाहा कि जमीन फट जावे, ताकि वह उसमे समा जावे। पर इसी बीच में आकाशवाणी हुई—"जब तुम कलमा पढ़ कर मुसलमान हो जाओगे, तभी तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।" गूगा कलमा पढ़कर मुसलमान हो गया। उसके कलमा पढ़ते ही जमीन फट गई, और वह उसमे समा गया। कुछ की सम्मति मे गूगा पृथ्वीराज का समकालीन था। जब मुहम्मद गौरी ने भारत पर

आक्रमण किये, तो उसने उनका वीरतापूर्वक सामना किया। पर पंजाब में प्रचलित गीतों के अनुसार उसे महमूद गजनवी[1] का समकालीन मानना अधिक उपयुक्त होगा। इन गीतों में बड़े विस्तार के साथ यह गाया जाता है कि किस तरह गूगा अपने पंतालीस लड़कों और साठ भतीजों के साथ महमूद गजनवी से लड़ता हुआ मारा गया। यह युद्ध गर्रा नदी के तट पर हुआ था। यहीं पर गूगा की समाधि भी पाई जाती है। यह समाधि हिसार के दक्षिण दद्रेरा नामक स्थान से बीस मील की दूरी पर स्थित है। यहा पर गूगा की पूजा के लिए भाद्रपद मास मे मेला लगता है। दूर-दूर से लोग आकर इकट्ठे होते है। अग्रवाल लोग गूगा को बहुत मानते हैं, इसलिये वे विशेष उत्साह से इस मेले मे सम्मिलित होते हैं।

गूगा हिन्दू और मुसलमान दोनो के लिए समान रूप से पूज्य है। भारत मे ऐसे देवी-देवता बहुत कम हैं, जिन्हे हिन्दू और मुसलमान दोनों मानते हैं। गूगा इनमें मुख्य है। हिन्दू उसे नागराज का अवतार मानकर उसकी पूजा करते हैं और मुसलमान जाहिर पीर समझ कर उसे मानते है। इतिहास म गूगा का क्या स्थान है, यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है, उससे सम्बद्ध किंवदतियाँ एक दूसरे से बहुत ही भिन्न हैं, पर अग्रवालों में जो उसका इतना अधिक सम्मान है, उसके दो कारण हो सकते हैं। पहला यह कि अग्रवालों मे नाग पूजा प्रचलित है। नागों का अग्रवालों के साथ घनिष्ट सबध है। नाग पूजा की परपरा मध्यकाल में अनेक भिन्न धाराओं मे प्रचलित हुई। इनम से एक लोकप्रिय धारा गूगा की पूजा के रूप में है। सभवत गूगा की अग्रवालों म जो पूजा होती है, इसका कारण यह कि गूगा नागराज का मध्यकालीन रूपान्तर है। दूसरा कारण यह हो सकता है कि जैसा ऊपर लिख चुके है, गूगा एक चौहान राना था, जो हिसार के समीप मेहरा म राज्य करता था। महमूद गजनवी के साथ वह बड़ी वीरता से लड़ा और जनता में एक वीर के समान पूजा जाने लगा। अग्रवाल लोग उसी प्रदेश के निवासी थे, अत उनमे गूगा की वीरता की स्मृति बड़े प्रबल रूप में कायम रही और जब गूगा का रूप केवल एक वीर राजा का न रहकर देवी हो गया, तो अग्रवाल लोग भी उसे देवता के समान पूजने लगे।"[2]

यहीं अपना पुस्तक की पाद-टिप्पणी म प्रोफेसर सत्यकेतुजी ने गूगा के सबध मे अधिक जानने के लिए Punjab casts (By L Ibbotson) और Tribes and Castes of the Central Provinces (By R V Russel) देखने की

१—महमूद गजनवी के आक्रमण और घोघा राणा के सबध में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी द्वारा लिखित 'जय सोमनाथ' नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास पठनीय है।—सपादक

२—अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास (प्रो सत्यकेतु विद्यालंकार, डी लिट, पेरिस) पृ २६१-६३।

सलाह दी है। इन दोनों पुस्तकों को देखने पर विदित हुआ कि प्रोफेसर साहब ने गूगा के विषय में जो कुछ लिखा है, वह इन्हीं पुस्तकों के लिखित अंश का सारांश है। अपनी ओर से गूगा के समय और चरित पर प्रकाश डालने के लिए इतिहासान्वेषण की दृष्टि से कोई विशेष परिश्रम नहीं किया। यहां तक कि यह जानने का प्रयत्न भी नहीं किया कि गूगा की पूजा का मुख्य स्थान, जिसे वे दूसरों के आधार पर 'मेहरा'[1] कहते हैं, वास्तव में मेहरा नहीं—बल्कि मेड़ी है। इन पंक्तियों के लेखक के मत से राजपूताना में केवल अग्रवाल ही नहीं, प्रायः सभी लोग गूगा को पूजते हैं और मध्यप्रान्त के नीमार में जिस तीस हाथ के लंबे डंडे को कपड़े और नारियल को बाध कर घुमाने का उल्लेख किया है, वह डंडा नहीं, झंडा पताका या निशान होता है, जिसे गूगाजी के 'भगत' (पुजारी) लेकर गूगा की महिमा के गीत गाते हुए घूमते हैं। रात्रि-जागरण (राती जगा) के लिए इन्हीं को निमंत्रित किया जाता है। इधर सर्वत्र ही श्रावण-भाद्र में गूगा की पूजा के निर्दिष्ट दिन से पहले 'भगतों की मंडलियां' घूमकर श्रद्धा-समर्पित भेंट संग्रह करती हैं। मुसलमान भी वही गूगा को मानते हैं, जिनकी धमनियों में हिन्दू पूर्वजों का रक्त प्रवाहित हो रहा है। और जिनको परिस्थिति ने हिन्दू धर्म छोड़कर इस्लाम पर अपना विश्वास स्थापित करने के लिए विवश कर दिया था। वही कायम खानी आदि नौ-मुस्लिम गूगा के प्रति अपने परपंरागत श्रद्धाभाव को नहीं बदल सके हैं और गूगा के कलमा पढ़कर मुसलमान हो जाने एवं तदनंतर पृथ्वी फट कर स्थान पाने जैसी मन-घड़न्त कल्पित धारणा बना ली गई है।

राजस्थान के महाकवि कविराजा सूर्यमलजी मिश्रण ने भी अपने बृहद ग्रंथ वंशभास्कर की तृतीय राशी के ३२-३५ मयूखों में वीरवर गोगा चौहान की उत्पत्ति और वीरता का बखान विस्तारपूर्वक किया है। तदनुसार बाणासुर के पुत्र रावण को मार कर अजमेर बसाने वाले अजयपाल चौहान के पर पौत्र भीम[2] का पुत्र गोगा चौहान था। उसकी माता का नाम मति था।

१—मेहरा-नहीं एक गांव 'मेहाड़ा' खेतड़ी (जयपुर राज्य) के इलाके में है, जहां गूगा का मेला भरता है।

२—अजयपाल चौहान
|
भटदलन
|
अनङ्गराज
|
भीम
|
गोग

यह विदर्भ के राजा की पुत्री थी। मति की छोटी बहिन नीति थी, जो गोड के राजा जयदेव को विवाही थी। उसके गर्भ से सुर्जन व अर्जुन नामक दो भाइयों का जन्म हुआ था। राजकुमार गोग शुक्ल पक्ष के चन्द्र की भांति कला को बढाता हुआ सोलह वर्ष की अवस्था में पहुँच कर अपने लिये निर्दिष्ट अशोक घोडे पर आरूढ हो शिकार के लिये जाने लगा। सिंह और वराह ही उसकी शिकार के लक्ष्य थे। इसके बाद उसने रावणासुर के पुत्र जटासुर-वकासुर को उनके सभी साथियों समेत मारा। उस लड़ाई में गोग के शरीर पर छत्तीस घाव आये थे। पुत्र की इस विजय पर राजा भीम ने बहुत बधाइयां बांटी और दान पुण्य किया। तत्पश्चात चन्द्रवंशीय वर्गीय राजा श्रीकर की गुणनिधाना कन्या प्रभा के साथ गोग का विवाह सम्पन्न हुआ और राजा भीम ने अपनी रानी विदर्भ कुमारी के साथ वन में योग मार्ग विलम्बन पूर्वक ब्रह्म रन्ध्र मार्ग से देह त्याग किया।

अठारह वर्ष की अवस्था में गोग चौहान पिता की गद्दी पर बैठा। उसका पुत्र शुभकरण भी पिता के समान ही विक्रमशाली हुआ। गोग को तीर्थराज प्रयाग में गौतमवंशी कृपाचार्य से शास्त्र और शस्त्र विद्या सीखने का सुयोग मिला। गोग का नाना निःसन्तान था, इसलिये उसने अपना राज्य गोग को सुयोग्य देख कर सौंप दिया और स्वयं अपनी रानी सहित वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर परलोकगामी हुआ। विदर्भाधिपति गोग के मातामह (नाना) की कनिष्ठा कन्या नीति गौड राजा जयदेव को व्याही गई थी। उसके दो पुत्र सुर्जन और अर्जुन गोग के मौसेरे भाई थे। जब गोग के इन दोनों मौसेरे भाइयों ने सुना कि नाना का देहान्त हो गया और उसका राजपाट गोग ने ले लिया, तब वे दोनों गोग के पास पहुँचे और साभिमान बोले—हमारा गोड कुल क्यों निर्बल है कि तुमने अकेले ही नाना का धन धाम सब कुछ ले लिया। उस पर तो तुम्हारा और हमारा समान अधिकार है। इसलिये आधा विभाग हमें दो। तुम कर्णाटक के राजा हो तो हम भी कन्नौज के अधीश्वर हैं।

यह सुन कर गोग ने कहा कि, पहले आते तो तुमको भी कुछ मिल जाता। नानाजी ने तुमको बुलाया नहीं, इसलिये मैं तुमको कुछ नहीं दूंगा। नानाजी लोकान्तरित होगये और अब तुम हिस्सा लेने आये हो? यदि दान लेना चाहो तो सब का सब दे दूं। किन्तु उसमें बल प्रकाश का, गर्जन तर्जन का काम नहीं। इस कथनोपकथन के परिणाम में सुर्जन अर्जुन गोड़ ने लड़ाई ठाना और उस लड़ाई में गोग चौहान ने उनको पराजित कर दिया। तब तो सुर्जन अर्जुन दोनों भाई सब राजाओं के पास पुकार कर थक गये, किन्तु उनका कोई सहायक नहीं हुआ। अतएव वहाँ से निराश होकर प्रतिहिंसा की भावना से अटक नदी उतर कर वे ईरान के बादशाह अबूफर के दरबार में पहुंचे। उस बादशाह के पास बड़ी सेना थी। दोनों भाइयों ने उस प्रबल पराक्रमी यवन राज को गोग पर चढ़ाई करने के लिए उत्साहित किया।

अबूफर अपनी बड़ी सेना के साथ गोग चौहान पर आक्रमण करने के लिए अग्रसर हुआ। अपनी नाक कटा कर दूसरों को अपशकुन देने वाले कि भाँति सुर्जन अर्जुन गोड उसके साथ थे।

"लंघि सिन्धु सनामयों सरिता अबूफर साह आयउ।
ऑर ऑर न लुहि तोरस जोर सोर मही मचायउ।।"

पांच योचन (बीस कोस) का भू-भाग सेना से बादलों की तरह छा गया। —यवनों की इस चढाई का संवाद सुनकर और एक की पराजय सबकी पराजय समझी जायगी, तथा हमारी भूमि पर दुष्टो का अधिकार हो जायगा—यह विचार कर गोग की सहायता के निमित्त बिना निमंत्रण ही-धर्म सम्मत नीति का अवलम्बन कर महामना राजा लोग एकत्र[६] हो गये यथा—

"मिच्छ सों इक को बनै सु बनैं समस्तन को पराजय
इक्क कारण एह औ भुव जाय दुष्टन के सु पै भय
यों विचारि महीप सज्जित व्है भये सब आनि इकत"

....

इतने वीर योद्धाओ को अपनी पीठ पर उपस्थित देखकर गोग ने कहा कि आप क्यो लडें, पहले मुझे भिड़ने दीजिये। मुझे मार कर दुष्ट जब इधर को बढ़े, तब आप सब जूझैं। यो गोग समुपस्थित ससैन्य राजाओं से वहीं ठहरे रहने का अनुरोध कर स्वयं रण के लिए सज्जित हुआ। उस समय वीरो का रूप बढ़ा और कायरो के मुख का पानी उतर गया। बादशाह अबूफर दो दिन का मार्ग एक दिन में ही तय कर सामने आया। उसने अपने तीस हजार घुड़सवार पहले ही गौएँ घेर लेने के लिए भेज दिये थे। गायों के घिर जाने पर त्राहि-त्राहि मची। पुकार सुनते ही गोग अपने अशोक घोडे पर सवार होकर सजी हुई सेना के साथ चल पडा। पांच कोस

---

६. गोग चौहान के सहायतार्थ बिना निमन्त्रण ही एकत्र हो जाने वाले राजाओ की नामावली वंश भास्कर के अनुसार इस प्रकार है:—

[१] विदर्भ की सेना के साथ हरिसेन का पुत्र बाल (गोग का भागनेय) [२] बंग देश के राजा का पुत्र प्रतर्दन (गोग का साला) [३] पटना का राजा सुव्रत। [४] अयोध्या के रघुवंशी राजा का पुत्र किन्नर [५] पाडव-वंशी नृपञ्जय। [६] शालीवाहन प्रमार का पुत्र जयसेन [७] प्रतिहार राजा सहल। [८] चोलाधिपति विदूखन का पौत्र विक्रम। [९] अर्बुद का चंद्रवंशी राजा सूर। [१०] कलिंग का राजा वीर राज। [११] केरल का राजा कुबेर। [१२] अंग का राजा चित्रसेन, [१३] सोरठ का राजा जयंत। [१४] साल्व का राजा शशिबिन्दु। [१५] डाहल का सुबाहु [१६] त्रिगर्त का जय [१७] कुन्तलेश्वर कर्मसेन [१८] मैथिल राजा प्रसेन [१९] ताजिक का दुर्ग, [२०] सुवीर का प्रतीन, [२१] टकराज का केसरी [२२] मत्स्य देशाधिपति अर्जुन, [२३] चालुक्यवंशी सूकरक्षेत्र के राजा का पुत्र रणातिथि [२४] मद्रराज सुवर्म, [२५] मरु-महीप दुर्दम।

वंश भास्कर ७०३ ३४ वाँ मयूख, पृ. ७५५ ५६

पीछा करके उसने यवनों की पीठ जा दबाई। बीस हजार शत्रुओं को मारकर उसने गोधन को छुड़ा लिया। इसके बाद भी चौहान दुश्मन को दबाये ही चला गया। गोग के भागनेय नाल ने खूब हाथ दिखलाये। पीछे से वे राजा लोग भी गोग की सहायता पर आ पहुंचे। कुरुक्षेत्र मे भारत की तरह बड़ी घमसान लड़ाई हुई। नर्मदा के उस पार तक मुसलमानों ने डटकर मुका बला किया—किन्तु बाद में उनके पाँव उखड़ गये और वे भागने लगे। हिन्दुओं की शस्त्रों की मार खाने-खाते वे बाग़ड़ होते हुए हरियाने में पहुँच गये। हरियाने मे पहुँचते ही राजाओं ने घेरा दे दिया। गोग ने झपट कर अजुकर पर वार किया जिससे वह अपने घोड़े की रकाब में लटक गया। फिर उसने अर्जुन गोग का सिर काट डाला। सुर्जन भाग गया। हरियाने तक सभी म्लेच्छ मारे गये, और चौहान की जीत के नगारे बजने लगे। इस लड़ाई मे गोग के पक्ष के वे सब राजा भी मारे गये, जिनके नाम पहले दिये जा चुके है। अपने बचे हुए सब राजाओं को एकत्र कर गोग ने कहा कि अब हमारी भी जाने की अवधि आ गई है। मेरा पुत्र शुभकरण अब वयस्क वीर है। उसके छोटे भाई १५ वीरगति पा गये। वंश भास्कर-कार के शब्दों में—

"अजिन गती रुट मित बरस,[७] कलिजुग-जातकाल।
दिन जिहिं जनम्यो ताहि दिन, पहुच्यो नृप पाताल॥
निलय गोग चहुआन के, रचि जन-पद हरियान।
ताको सब पूजत जगत, अब लग नृप चहुआन॥

गोग हि भूप प्रविष्ट गिनि नतिजुत रामरेस।
पूजित जाहिर पीर कहि, कतिपय जवन निमेस॥
ताहि सपमय होत नहिं, बरनत जो यह बात।
सर्पहु गोग प्रभाव सुनि, जरी[८] निलय[९] तजि जात॥

वंश भास्कर-रचयिता-वर्णित गोग चौहान के चरित का यही सार है। इसमें गोग के तिरोधान या पाताल प्रवेश का सवत् कलियुग व्यतीत काल ६१३ माना है। गोग के पक्ष में लड़ने और मरने वाले वीरों के नाम भी दिये है, जिनके साथ युद्ध करना पड़ा था, उनमें अबूकर इरान का बादशाह कहा गया है। गोग को कर्णाट राज्य का स्वामी और उसकी राजधानी मिहकावती बताई गई है। इस वर्णन का ऐतिहासिक आधार अज्ञात है। गोगा या गूगा का जो चरित राजपूताना के स्मृति निष्ठ लोक साहित्य के अन्तर्गत गीतों और कथाओं के रूप में सुरक्षित है, उससे इसका पूरा मेल नहीं खाता। यद्यपि गूगा के देहावसान का स्थान-वर्णन मे भी हरियाना ही कहा गया है। इसके अतिरिक्त शत्रु को चढ़ा कर लाने वाले उसके मौसेरे भाइ सुर्जन अर्जुन

७ ६१३ वष।
८ जल्दी।
९ घर छोड़ जाता है।

गोड के नाम भी ज्यों के त्यों आये हैं। गौओं के रक्षणार्थ युद्ध होने के साथ गोगा के भानेज बाल के नाम का भी उल्लेख है। अतएव अब यदि गोग के पक्ष में समागत विभिन्न दूरवर्ती स्थानों के राजाओं की नामावली और कलियुग-व्यतीत-काल संवत ६१३ की कल्पना प्रसूत समझ कर ईरान के बादशाह अबूकर को दिल्ली के बादशाह फिरोजशाह तुगलक का सेनापति अबूबक्र मान लिया जाय तो सब अन्तर स्वतः दूर हो जाता है। इस स्थिति में सातवीं शता दी की जगह गोगा अथवा गूगा को विक्रम की १५ वीं शताब्दी के प्रारंभ का वीर मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

सिरोही राज्य के रिटायर्ड लेंड रेवेन्यू ऑफिसर लल्लुभाई भीमभाई देसाई ने अपनी पुस्तक "चौहान कुल कल्पद्रुम" में पृथ्वीराज विजय और सिरोही राज्य के इतिहास से उद्धृत वंशावलियों में आये हुए चाहमान से ६ ठी पीढ़ीस्थ गोपेन्द्रराज का ही नामान्तर गोगाराव होने का अनुमान करते हुए लिखा है कि साभर के चौहानों ने मुसलमानों के हमले में हर एक समय अपना बलिदान दिया है। बगदाद के खलीफा महमद बिन कासिम के साथ गोपेन्द्रराज उपनाम गोगाराव ने ११ लडाइयां लड़ी और बारहवीं बार गौओं के रक्षणार्थ अपने ४३ पुत्रों के साथ मारा गया। उसकी राणी-मेलणदे राठोड़ कन्या महासती थी। गोगाराव के पीछे उसकी ३५ राणिया सती हुई। गोगाराव ने वि सं. ७८२ में गढ़ सांभर में समर किया था। वर्तमान समय में इसकी गोगादेव के नाम से पूजा होती है। गोगाराव के युद्ध में वीर गति-प्राप्त ४३ पुत्रों के विषय मे एक "निशाणी" है—

"अचलो ऊदो, असपत, लालचंद, केशव लाड़ो।
प्रेमो, पीथल, दास, सदो, आसलमल्ल, छाँड़ो।
खेतसी, भीम, खगार, जोध, अमरो मान, जेतो।
जसो, डुंगो, जसराज, नगधीर माधव, नेतो।
हदो, कान, हरी, अंत पूते, गोर्धन, पचारण।
विदो, वाग, वणिदास, नरू, आध बीजो नारायण।
सुजो, सातल, सखसूर, गोगराज सुत एम लड़े।
शाह ममूद सुकर, मामलो तिरयाली तण दिन पड़े[१०] ॥

संभवतः उक्त निशाणी और इससे संबंधित कहानी को लक्ष्य करके ही कर्नल टॉड ने लिखा है :— "Guga the chauhan, who with his forty seven sons fell defending the passage of the sutley on Mahmud's invasion." शायद गूगा के इसी आत्मोत्सर्ग के गीत पंजाब में गाये जाते हैं और आश्चर्य नहीं, कि यह गोगा अथवा गूगा राजपूताना के गीतों में गाये जाने वाले गूगा से भिन्न हो। जो भी कुछ हो, इस संबंध मे निश्चयात्मक मंतव्य व्यक्त करने के लिए कोई साधन इस

---

१०. चौहान कुल कल्पद्रुम — पृ० २२, २३, ३०।

समय उपस्थित नहीं है। हाँ, यह तो असंभव नहीं है कि, नाम साम्य के कारण पहले की गुण गरिमा का संबंध सूत्र दूसरे के साथ जोड़ दिया गया हो।

प्राप्त गीतों और परंपराश्रित वार्तों के आधार पर किये हुए अन्वेषण में यह प्रगट है कि, गोगाजी चौहान ददेरा के राव थे और उनके अधीन ८४ गांव थे। पिता का नाम सूरजपाल और पितामह का नाम झींझा था। राठौड़ धांधलजी के पुत्र प्रणवीर पाबूजी के बड़े भाई बूड़ाजी की पुत्री केलणबाई के साथ गोगाजी का विवाह हुआ था। श्वसुर होने पर भी–पाबूजी गोगाजी से अवस्था में छोटे थे। केलणबाई के विवाह में कन्यादान के समय पाबूजी ने "राती धोली सांढ सांढिये[11]" देने का संकल्प किया था। केलणबाई के ससुराल जाने पर जब पाबूजी के संकल्पित सांढ सांढिये नहीं पहुँचे, तब उसकी अन्तःपुर में हँसी उड़ायी जाने लगी। इससे केलणबाई को बड़ा दुःख हुआ। तानों को सुनते सुनते वह तंग आ गई। अतएव उसने अपनी कष्ट कथा सोपालंभ पाबूजी को लिख कर उनके संकल्प की याद दिलाई। इस पर पाबूजी दूर-देशस्थ लकखधनी[12] में जहाँ की उत्कृष्ट श्रेणी के ऊँट ऊँटनी होते थे, बड़े साहस के साथ एक टोला (सांढ सांढियों का समूह) घेर लाये और गोगाजी की भेंट कर दिया। गली गली में ऊँट-ऊँटनी फैल गये। इस प्रकार पाबूजी अपने वचन का पालन कर यशस्वी बने।

गोगाजी की माता का नाम बाछलदे और मौसी का नाम आछलदे था। आछलदे के गर्भ से सुरजन अर्जुन दो भाइयों का जन्म हुआ था। समीपवर्ती गाँव में उनका निवास था। जमीन जायदाद को लेकर गोगाजी से उनका विरोध हो गया। इसके परिणाम में बादशाह के दरबार में दिल्ली पहुँच कर वे दोनों पुकारे और खास बादशाह की फौज चढ़ा लाये। फौज ने आक्रमण किया और गौएँ घेर ली, जिसके प्रतिरोध के लिए गोगाजी ने युद्ध किया। उनका 'भाना' भानजा भी मार्ग में साथ हो गया। दोनों ओर से घोर युद्ध हुआ। किन्तु गोगाजी ने गौएँ छुड़ा लीं। सुरजन अर्जुन मारे गये। बहुसंख्यक योद्धा काम आये। जब गोगाजी की माता ने यह सुना कि, गोगाजी ने अपने मौसेरे भाइयों को मार डाला, तब वह बड़ा क्रुद्ध हुई। गोगाजी युद्ध में घायल हो चुके थे। इसके बाद ददेरा[13] का निवास त्याग कर गोगाजी मेड़ी[14] चले आये और वहीं उनका देहावसान हुआ। ददेरा और

---

११ ऊँटनी और ऊँट।

१२ लकखधनी सिंध में एक इलाका है, यहां की सांडनी बहुत अच्छी होती थी।
—रिपोर्ट मर्दुमशुमारी मारवाड़—पृष्ठ २७।

१३ "ददेरा" नामक गांव, इस समय बीकानेर राज्य के परगना राजगढ़ में है।

१४ "गोगा मेड़ी—कस्बा नोहर से पूर्व की ओर ८ कोस के अन्तर पर अवस्थित है। हिसार एवं सिरसा जिले का समीपवर्ती स्थान होने के कारण गोगा मेड़ी को Mehri के रूप में हरियाना जिले का गांव समझने की भूल की जाती है। किसी समय यह चाहे हरियाने में रहा होगा, किन्तु इस समय तो बीकानेर राज्यान्तर्गत परगना नोहर का एक

मेडी दोनों स्थानों पर ही उनके नाम के मेले लगते हैं, जिनमें मेडी तो गोगामेड़ी के नाम से ही प्रसिद्ध है।

गोगाजी गोरखनाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उस समय प्रायः नरेश ही नाथों की शिष्य परंपरा फैली हुई थी। राठोड़ और कछवाहे भी नाथों की धूणी के ही चेले थे। गोगाजी साधना द्वारा स्वयं भी सिद्ध-कोटि को पहुंचे हुए थे। नाथों पर उनका असाधारण प्रभाव था। गोरक्षार्थ आत्म-त्याग करने के कारण वे पूजार्ह बन गये। अपने वीरों को देवता का रूप देकर पूजना हिन्दुओं की विशिष्टता है। नाग-पूजा भी यहां के लिए नई बात नहीं है। जैन जातकों में भी नाग पूजा का उल्लेख है। इस प्रांत के प्रसिद्ध तीर्थ लोहार्गल माहात्म्य भी नाग-महिमा से खाली नहीं है। सांप के अचानक दिखाई देने पर उसको पितर का रूप मान कर हाथ जोड़ने की भावना भी यहां के स्त्री समाज में पायी जाती है। ये सब चिर चरित नाग-पूजा की श्रद्धा समन्वित भावनाएं भी वीर गोगाजी की पूजा में सम्मिलित हो गई, जान पड़ती हैं।

गोगाजी के वीरगति पाने का समय कर्नल टाड के एनॉल्स एण्ड एंटिक्विटीज आव राजस्थान के नवीन संस्करण के सम्पादक विलियम क्रूक, सी. आई. ई. ने टॉड साहब से भिन्न मान कर उनके पूर्व कथित मत की पाद टिप्पणी में लिखा है —

"Gugaji or Guggaji have been killed in battle with

गांव है। मुंशी सोहनलाल साहब एडिशनल मेम्बर बीकानेर स्टेट रिजेन्सी कौंसिल (संवत १९४७वि) द्वारा लिखित 'तवारीख राज श्री बीकानेर' के अनुसार गोगा-मेड़ी में गोगाजी के स्थान पर भादो के महीने में मेला होता है। जिसमें चैपों की खरीद-फरोख्त होती है। वर्ष भर में भादवा वदी ९ और सुदि ९—दो दिन गोगाजी की पूजा के लिए नियत है। स्त्रियों और पुरुषों की बड़ी भीड़ जमा होती है। गोगाजी की करामात से सांप नहीं काटता, ऐसी प्रसिद्धि है! गोगाजी के स्थान के इर्द-गिर्द दूर तक जंगल पड़ा हुआ है। जगल में अधिकतर दरख्त 'खैरी' के हैं। खैरी का गोंद उत्तम समझा जाता है। गोगाजी के वेहड़ (वणी) से कोई दरख्त पेड़ काट नहीं सकता। जिस स्थान को गोगाजी का मकबरा कहा जाता है; वह मकबरे के रूप में नहीं, बल्कि एक छोटसा 'मकान' है। मालूम होता है किसी साहूकार या किसी भक्त ने यह मकान बनवा दिया। हिन्दू जुझार वीर गोगाजी चौहान को पीर कह कर पूजने वाले उस स्थान को 'मकबरा' कहने लग गये। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के एक आदि कार्यकर्त्ता प्रख्यात पं. जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल आयुर्वेद पंचानन का अनुमान है कि गोगाजी चौहान को जो मुसलमान जाहिर पीर कहने लग गये, इसका कारण यह भी हो सकता है कि उन्होंने-गोगा जी के 'गो' और गाजीटुकड़े कर लिये। और 'गो' के साथ 'गाजी' का योग देखकर अपने विश्वासानुसार पीर कहने लग गये। जाहिर का अर्थ तो 'प्रकट' या प्रकाश्य है, किन्तु यहां 'जाहिर पीर' का मतलब जौहर या जुझार मालूम होता है।

देखो विद्वद्रत्न पं रामकर्णजी आसोपा का 'मारवाड़ का मूल इतिहास' पृ० ७०

Firoz shah of Delhi at the end of the thirteenth century A D"

अर्थात् गूगाजी अथवा गुग्गाजी तैरहवीं शताब्दी (ईसा की) के अन्त मे दिल्ली के फिरोजशाह की लड़ाई में मारे गये थे। परन्तु इसमें भी कुछ सन्देह है। यह ठीक है कि फिरोजशाह तुगलक का ददेरा पर आक्रमण हुआ था, किन्तु वह ईसा की तैरहवीं नहीं, बल्कि चौदहवी शताब्दी के अन्त में हुआ था। राजस्थान के इतिहासज्ञ श्री जगदीशसिंह गहलोत के मारवाड़ राज्य के इतिहास में गोगाजी का वि स १३५३ मे द्वितीय फिरोजशाह देहली के चढ़ाई करने पर यवनों के साथ लड़ कर काम आना माना गया है। परन्तु यदि श्री गहलोतजी की राय में यह जलालुद्दीन फिरोज खिलजी है तो उसकी मृत्यु सवत् १३५३ मे हो चुकी थी[15] और सवत् १३५३ में मुस्लिम इतिहास काल के प्रमाणिक इतिहासवेत्ता मुन्शी देवीप्रसादजी की "यवन राजवशावली" के अनुसार फिरोजशाह का भतीजा अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली का बादशाह था।

यह स्मरण रहना चाहिए कि फिरोजशाह तुगलक का समय ई स १३५१–८८ तदनुसार वि स १४०८–१४४५ है। स्वर्गीय मुन्शी देवीप्रसादजी सन् १८९४ ई की "मर्दुम शुमारी राज मारवाड़" की रिपोर्ट मे सवत् १४४० मे फिरोजशाह तुगलक के समय मे ददेरे पर आक्रमण होना लिखते हैं। इसके हिसाब से ई स १३८३ होता है। यही गोगाजी के वीरगति पाने का सभवत सही सवत् होना चाहिए। उक्त रिपोर्ट में गोगाजी के सम्बन्ध मे लिखा है —

"गोगा चौहान, चौहानों मे देवता हुआ है, जिसको साँप काटता है, उसके गोगा के नाम का डोरा बाँधते हैं। गोगा का थान (स्थान) जिसमे साँप की मूर्ति पत्थर मे खोदी होती है, (अथवा घुड़सवार के रूप मे ?) अक्सर गाँवों मे होती है और इसी वास्ते यह मारवाड़ी ओखाणा (कहावत) चला है कि 'गाव गाव गोगो और गाव गाव खेजड़ी' गोगा के थान अक्सर खेजड़ा के नीचे होते हैं और गाँवों मे जिसके घर साप निकलता है, वह गोगाजी को याद करके दूध का छांटा डालता है। मेह बरसने पर जिस दिन हल चलाना शुरु करते हैं—गोगाजी के नाम की राखी—जिसको 'गोगा-राखड़ी' कहते हैं—९ गाठे देकर 'हल' और 'हाली' के बाँधते हैं और बार बार यह पढ़ते हैं —'हाली बालदी गोगो रखवालो' गोगा चौहान को मुसलमान "गोगा पीर" के नाम से मानते हैं।[16]

भादवावदि ९ को प्रतिवर्ष राजपुताने में गोगाजी की सर्वत्र पूजा होती है। यह दिन 'गोगा-नवमी' के नाम से प्रसिद्ध है। पूजा के समय चिकनी मिट्टी की घुड़सवार के आकार की गोगाजी की मूर्ति बना, उस पर रक्षा पूर्णिमा को बाँधी हुई 'राखी' (रक्षा-सूत्र) चढ़ाया जाती हैं। कई स्थानों में गोगाजी के बाबत मेला गोगा नवमी को ही होता है। हिन्दू स्त्रियां जब देवियों के स्तवन के गीत गाती हैं, तब गोगाजी का भी गीत गाया जाता है।

---

१६ रिपोट मर्दुमशुमारी राज मारवाड़ पृ० १४

[१६] जैन साहित्य और चित्तौड़

[अंक १ से आगे]

(श्रीयुत अगरचन्द नाहटा)

आचार्य हरिभद्र सूरिजी के पश्चात् लगभग दो सौ वर्षों का जैन-इतिहास अंधकार में है। १० वीं शताब्दी के अन्त मे उद्योतन सूरि नामक प्रसिद्ध जैन आचार्य हुए। उनसे फिर कुछ सिलसिला मिलता है और ११ वीं शताब्दी के शेषार्द्ध में उसमे कुछ व्यवस्थित रूप देखा जाता है। इस बीच के २-४ उल्लेख ही चित्तौड़ के सम्बन्ध मे प्राप्त होते है पर उनके सम्बन्ध में विशेष विवरण नही पाया जाता। प्राप्त उल्लेख इस प्रकार हैं—

१—कृष्णर्षि ने एक बार चक्रेश्वरी देवी के वचन से चित्तौड़ जाकर किसी व्यक्ति को दीक्षित किया और उसे विद्या-अध्ययन करवा के देव गुप्तनाम से आचार्य पदारूढ़ किया।

(१० वीं शताब्दी उ. उपकेशगच्छ प्रबन्ध)

२—विमलचन्द्र सूरिजी के सम्बन्ध में गुर्वावली एवं क्रिया-रत्न-समुच्चय की प्रशस्ति मे लिखा है:—

"ततः प्रसिद्धोजनी चित्रकूटे, सहेम सिद्धि विमलेन्दु सुरिः।
अपूजयधं विषमेपिवादे, सद्योजिते गो पगिरि नरेन्द्रः॥

३—मेवाड़ नरेश अल्लट के मन्त्री ने आघाट में जैन मन्दिर बनाया। उसमें पार्श्वनाथ बिम्ब की प्रतिष्ठा चित्तौड़ खंडेरक गच्छीय यशोदेव सूरि को बुलवा के करवाई।

(११ वीं शताब्दी का प्रारम्भ उ. जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास पृ. १६३)

४—जब गुजरेश्वर भीमदेव राजा तक धांधुक पर क्रुद्ध हुआ तब विमल शाह ने भक्ति से भीमदेव को प्रसन्न कर धांधुक को चित्रकूट मे लाकर वि. सं. १०८८ में उसकी आज्ञा से करोड़ों रुपये खर्च कर विमल नामक सुन्दर जिन मन्दिर बनवाया।

(जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास पृ. ११३)

इसके पश्चात् जिन वल्लभ सूरिजी ने १२ वीं शताब्दी में चित्तौड़ में कई वर्ष रह कर विधिमार्ग का प्रचार किया जिसका संक्षिप्त इतिहास दिया जा रहा है।

जिनवल्लभ सूरि का चित्तौड़ से सम्बन्ध

श्री अभयदेव सूरि के स्वर्गवास के अनन्तर जिनवल्लभ गणि गुजरात से दो मुनियों के साथ चित्तौड़ पधारे, पर वहां उस समय चैत्यवासियों का पूरा प्रभाव एवं प्राबल्य था। अतः गणिजी को ठहरने के लिये स्थान तक नहीं मिला। विरोधियों ने उन्हें कष्ट पहुंचाने के उद्देश्य से कहा— आपके ठहरने का स्थान तो शून्य चंडिका देवी का मन्दिर है। आप बड़ी दृढ़ता के साथ वहीं जाकर ठहरे। चंडिकादेवी आपके ज्ञान ध्यान से सन्तुष्ट होकर आपकी भक्त हो गई। इस प्रभाव के कारण वहाँ आपकी अच्छी प्रसिद्धि होगई। छन्द, काव्य, दर्शन और ज्योतिषादि सभी विषयों के आप असाधारण विद्वान थे ही, अतः ब्राह्मण आदि विद्वान् आपसे विद्वद्गोष्ठि करने आने लगे। स्थानीय साधारण (सहक, सुमति, पल्हक, वीरक, मानदेव धन्धक, वीरदेव) श्रावक भी आपके शुद्ध साध्वाचार से प्रभावित होकर आपके भक्त हो गये। एक दिन साधारण श्रावक ने आपसे परिग्रह परिमाण व्रत[1] लेना चाहा। गुरूजी ने परिमाण पूछा तो उसने २० हजार से अधिक द्रव्यादि न रखने की इच्छा प्रगट की। ज्योतिष आदि के आधार से भावी भाग्योदय बताकर उसे परिमाण बढ़ाने को कहा, तब उसने १ लाख का परिमाण परिग्रह व्रत ग्रहण किया। गुरुजी के प्रसाद से उसके घर दिनों दिन लक्ष्मी बढ़ती ही गई। उसका प्रभाव भी बढ़ता गया। एक बार उसने चित्तौड़ के बहुदेव श्रावक को धारा के नरवर्म राजा के बन्धन से छुड़ाया। गणिजी के अनुयायियों की संख्या भी बढ़ने लगी।

अश्विन शुक्ला १३ को भगवान महावीर के गर्भापहार[2] कल्याण दिन के कारण जिन मंदिर पधारे। मन्दिर चैत्यवासी आचार्यों का था। अतः एक आर्या-साध्वी ने उन्हें जाने से रोका। वाचनाचार्य जिनवल्लभ गणि श्रावकों के संग वापिस लौट गये। और एक श्रावक के घरमें ही चतुर्विंशति जिन मूर्ति को स्थापित कर देव वन्दनादि विधि सम्पन्न की। आपके भक्त श्रावकों को चैत्यवासी आर्या का मन्दिर में आने से रोकना बहुत अखरा। अतः उन्होंने चित्तौड़ पहाड़ के ऊपर एवं नीचे दो नये जिन मंदिर बनाने का निश्चय किया। निर्णयानुसार साधारणादि श्रावकों ने ऊपर में पार्श्वनाथ और पर्वत की तलहटी में महावीर भगवान का मंदिर निर्माण कर जिनवल्लभ गणिजी से प्रतिष्ठापित करवाया[3]।

---

१ धनधान्यादि, वस्तुओं के परिमाण करना, उससे अधिक संग्रह नहीं करना।

२ स्वर्गलोक से गर्भ में अवतरण।

३ चैत्यवास और सुविहित विधि के सम्बन्ध में हमारा ग्रन्थ जिनवल्लभ सूरि चरित्र देखिये।

इन मंदिरो में सुविहित विधि प्रचारित हुई एवं उसके निर्देशक संघपट्टक धर्मशिक्षा, अष्ट सतिका आदि ग्रन्थ बनाकर पाषाण-पट्टिकाओ पर खुदवा कर गणिजी ने इन मंदिरों में लगवा दिये।

एक बार धारा नगरी के राजा नरवर्म की सभा में किसी विदेशी पंडित ने आकर एक समस्या पत्र रखा। राजपंडितों ने उसकी पूर्ति की, पर आगत-विद्वान को वह पसन्द नहीं आयी। तब नरवर्म राजा ने जिनवल्लभ गणि की विद्वत्ता सुनकर चित्तौड़ में स्थित गणिजी को वह समस्या पदपूर्ति के लिए भेजा। गणिजी ने तत्काल उसकी सुन्दर पादपूर्ति धारा नगरी के राजा नरवर्म के पास भेज दी, जिससे विदेशी पंडित को सन्तोष हुआ। इससे नरवर्म राजा बड़े प्रसन्न हुए। गणिजी के धारा पधारने पर राजा नरवर्म ने उनका बड़ा सन्मान किया और तीन लाख पारुत्थ (तत्कालीन सिक्का या तीन ग्राम भेंट किये। पर गणिजी ने उनका ग्रहण साधु-धर्म के विरुद्ध बतलाया। राजा के फिर भी अनुरोध करने पर उन्होंने २ लाख पारुत्थ चित्तौड़ के विधि चैत्य द्वय के पूजार्थ देने का सूचन कर दिया।

एक दिन एक ज्योतिषाचार्य ब्राह्मण आपकी विद्वत्ता की प्रशंसा सुन कर आया और अपने ज्योतिष ज्ञान का गर्व प्रगट करने लगा। तब गणिजी ने अपने सूक्ष्म ज्योतिष विज्ञान से उसे आश्चर्यान्वित कर दिया। इसी प्रकार आपने एक और विद्वान् को समस्या की सुन्दर पूर्ति कर के चमत्कृत किया। यहीं रहते हुए आपने सुवर्ण सिद्धि के लोभ से आये हुए गणदेव श्रावक को वैराग्यमय उपदेश देकर प्रति बोधित किया और उसे अपने रचित १२ कुलक देकर वागड़ देश के लोगो को प्रतिबोधनार्थ भेजा। जिससे १० हजार श्रावक प्रति बोध प्राप्त हुए। यहीं रहते हुए आपने मुनि चन्द्रसुरि के दो शिष्यो को पढ़ाया था।

सं. ११६७ के आषाढ़ शुक्ला ६ को आपके प्रतिष्ठित महावीर जिनालय में ही आचार्य देवभद्र सुरिजी ने आपको आचार्य पदारूढ़ कर अभयदेव सूरि के वचनानुसार उन्हें उनके पट्टधर के रूप में प्रसिद्ध किया। चैत्यवास के उन्मूलन मे आपने बहुत ही श्रम किया एवं सफलता प्राप्त की। आप बड़े सुकवि, दार्शनिक एवं जैन शास्त्र वेत्ता विद्वान थे। आपके रचित संस्कृत एवं प्राकृत के अनेकों ग्रन्थ आज भी आपकी यश-पताका फहरा रहे हैं[1]।

जिन दत्त सूरि

जिनवल्लभ सूरिजी प्रतिष्ठित साधारण शाह कारित महावीर विधि चैत्यालय में सं. ११६९ के वैशाख सुदी ६ शनिवार को देवभद्र सूरिजी ने श्री जिनवल्लभ सूरिजी के पट्टधर सोमचन्द्रजी को स्थापित किया। आचार्य पदान्तर आपका नाम जिनदत्त सूरिजी के रूपमें प्रसिद्ध हुआ। पदमहोत्सव के अनन्तर आपने बड़ी सुन्दर धर्म-देशना दी, जिसकी सबने प्रशंसा की। आपके

१—यहां बहुत संक्षेप में लिखा गया है, विस्तार से जानने के लिये 'अपभ्रंश काव्यत्रयी ग्रंथ देखना चाहिए।

वहीं रहते समय प. जिनशेखर को किसी अनुचित कार्य से देवभद्र सूरिजी ने उन्हें समुदाय बाहर कर दिया था। उनके क्षमा याचना एवं भविष्य में वैसा नहीं करने का कहने पर जिनदत्त सूरिजी ने उन्हें गच्छ में सम्मिलित कर लिया। इसके पश्चात् सूरिजी ने विहार किस ओर करने से धर्मोन्नति होगी इसका निर्णय करने के लिए स्वर्गस्थित श्री हरसिद्धाचार्य का स्मरण किया। उन्होंने मारवाड़ की ओर विहार करने का संकेत किया। तदनुसार सूरिजी उधर पधारे गये। उस समय चैत्यवास का चित्तौड़ में प्राबल्य था, यह पूर्व कहा जा चुका है। जिनवल्लभ सूरिजी ने चैत्यवास का प्रबल प्रतिरोध किया था। उनके पट्टधर होने व स्वयं भी चैत्यवास के उन्मूलक होने से जिनदत्त सूरिजी के चित्तौड़ पधारने पर एक बार विघ्नसंतोषी विरोधी लोगों ने उनके प्रवेश महोत्सव के समय अपशकुन के लिए काले साँप को रस्सी में बाँध कर सूरिजी के सम्मुख छोड़ दिया। सूरिजी के भक्त श्रावक उसे अपशकुन मान कर गीत वादित्र बन्द कर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। तब ज्ञानादित्य सूरिजी ने कहा—उदास क्यों हो रहे हो? दुष्ट अभिप्राय वाले अपने किये का फल स्वयं पा लेंगे। अपने लिए तो यह शकुन अच्छा है, कोई विचार मत करो। विरोधियों ने पुनः एक नाक कटी स्त्री को सूरिजी के सम्मुख भेजी। वह पूज्य श्री का मार्ग रोक कर खड़ी हो गई। सूरिजी ने कहा 'आई भली'। उसने उत्तर दिया "भग्गइ धाणुक्कइ मुरी।" मृदुहास्य पूर्वक प्रतिभा सम्पन्न सूरिजी ने कहा "एकदया हरातेण तुह छिन्ना"। यह सुन कर वह निरुत्तर होकर चली गई। पूज्य श्री ने बड़े समारोह के साथ नगर प्रवेश किया और वहां जिन बिंब प्रतिष्ठादि बहुत से महोत्सव हुए।

जिनवल्लभ सूरिजी एवं श्री जिनदत्त सूरि का वृत्तान्त सम्वत् १२९५ में सुमति गणि रचित गणधर सार्द्धशतक बृहद् वृत्ति से लिया गया है। अब १२ वीं १३ वीं शताब्दी की अन्य प्रवृत्तियों का परिचय करवाया जा रहा है।

प्रभावक चरित्र के कथनानुसार वादी देवभद्र सूरिने १२ वीं शताब्दी में चित्तौड़ में भागवत शिव मूर्ति को शास्त्रार्थ में पराजित किया था

मुनि जिन विजयजी सम्पादित जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह के पृ० १०२ में सं ११८५ की लिखित ताड़पत्रीय प्रशस्ति में श्री हरिभद्र सूरि को चित्रकूटाचल निवासी लिखा है, एवं सं ११८६ में जिनदत्ताख्यान की प्रति मणिभद्र यति ने वरनाग के लिए यहीं लिखी थी, जिसकी पुष्पिका लेख उक्त ग्रंथ में है।

विजय धर्म सूरि सम्पादित प्राचीन लेख संग्रह लेखांक २१ में सं. १२२१ के पार्श्वनाथ चैत्यालय के लेख में चित्रकूटीय शिल्पि (वा) टका निर्देश है।

जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह के पृ० १२० में कर्म विपाक टीका की प्रति को वि सं १२९५ चित्रकूट वास्तव्य ओसवाल उपकेश गच्छीय आसना के पुत्र धर्म सिंह व जिनेश्वर सूरिभक्त शत्रुंजय गिरनारादि तीर्थों का संघ सहयात्रा करने वाले व जैनसिद्धान्त लिखाने वाले

शाह साल्हा ने भ्रातृ देदा के साथ लिखाई। प्रशस्ति संग्रह के पृ. ४६ में प्रकाशित कल्पसूत्र की प्रशस्ति के अनुसार जाहड़ ने चित्रकूट में पार्श्वमंदिर बनवाया था। जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह के पृ० १२६ में संवत १३१४ में लिखित हेमी नाम माला की प्रति को गुणसुन्दरी महत्तरा के उपदेश से चित्रकूट महादुर्ग में मंत्री माणिक्य नीरा पत्नी शृंगारदेवी श्राविका ने पार्श्व स्थपति से तिलक प्रभगणि को समर्पित करने का उल्लेख है।

युगप्रधानाचार्य खरतर गुर्वावली में श्री जिन प्रबोध सूरिजी के चित्तौड़ पधारने पर जो धर्म कृत्य हुए, उसका उल्लेख इस प्रकार है:—

जिन प्रबोधसूरि

सं. १३३५ के फाल्गुन शुक्ला ६ को वाहड़मेर से विहार कर जिन प्रबोध सूरिजी चित्तौड़ पधारे। वहाँ के सोनी धांधल और उनके पुत्र वाहड़ ने संघ सहित नगर प्रवेश बड़े धूमधाम से करवाया। फाल्गुन वदी ५ को महाराणा समरसिंह के रामराज्य में आस-पास के लोगो का गुरुश्री के दर्शनार्थ मेला सा लग गया था। चित्तौड निवासी जटाधर तपस्वी, राजप्रधान चोत्रसिंह, कर्णराजपुत्रादि मुख्य-मुख्य सभी नागरिको की उपस्थिति मे महोत्सव प्रारंभ हुआ। स्थानीय एकादश मंदिरो के एकादश छत्रों सहित पालकियो से नगर की शोभा बढ रही थी। स्थान-स्थान पर बारह प्रकार वादित्र बज रहे थे। याचको को यथेष्ट दान दिया जा रहा था। उस समय चित्तौड़ के चौरासी नामक मोहल्ले में जल यात्रादि के साथ श्री मुनि सुव्रत युगादिदेव, अजितनाथ, वासुपूज्य प्रभु की प्रतिमाओ की स्थापना की गई। इसके साथ ही सेठ धनचंद्र के पुत्र समुद्धरकारित महावीर समवसरणपूर्णगिरिस्थित शान्तिनाथ विधि चैत्य में पितल मय शांतिनाथ समवशरण एवं साम्ब आदि की मूर्ति मे, दण्डधारी द्वारपाल की प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा जिन प्रबोध सूरिजी ने की। उसी दिन चौरासी मुहल्ले मे श्री ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ शाम्ब, प्रद्युम्न मुनि, अंबिका चक्रहर, अंबिका के मन्दिरों में ध्वजारोपण बडे महोत्सव से किया गया। इस प्रसंग पर महाराजकुमार अरिसिंह की उपस्थिति विशेष रूप से उल्लेखनीय थी। यह महोत्सव श्री संघ की ओर से हुआ था, पर सोनी धाधल के पुत्र वाहड का श्रम उल्लेख योग्य है।

महोत्सव समाप्ति के बाद सूरिजी ववद्रहा पधारे। वहाँ के श्री जिनदत्त सूरि के प्रतिष्ठित पार्श्वनाथ चैत्यालय का जीर्णोद्धार महण झाझण के पिता सेठ आल्हाक ने करवाकर फाल्गुन शुक्ला १४ को चित्तौड मे प्रतिष्ठित दण्ड-ध्वज आरोपण करवाया।

चवदहवी शताब्दी की अन्य प्रवृत्तियाँ संक्षेप में इस प्रकारहैं:—

१—पैथड़शाह ने ८४ मन्दिर बनवाये, जिनमें चित्तौड में भी बनवाने का उल्लेख है। इनके पुत्र झांझण ने सं. १३४० में चित्तौड चैत्य परिपाटी यात्रा की। यहाँ से करहेटक में जाकर गुरु आज्ञा से पार्श्वप्रभु का सात-भूमि वाला मंडपयुक्त विशाल मन्दिर बनवाया। वहाँ से नागहृद, आघाट पुरादि (मेवाड) की यात्रा की।

२—स १३४३ के वैशाख सुदी ५ सोमवार को धाधल पुत्र भा भीमा, भा छाहड सुत भा खेतसिंह श्रावक ने विक्रमाक काव्यादि की प्रति मूल्य से खरीद की, जिसकी प्रशस्ति जैन पुस्तक प्रशस्ति सग्रह में प्रकाशित है।

३—प्राचीन जैन लेख संग्रह, पृ २८० मे प्रकाशित स १३५२ के खभात के चिन्तामणि पार्श्वनाथ मन्दिर के लेख में हुँकारवशी सागणसिंह पुरवशीय जयता प्रह्लादनादि के चित्रकूट से आकर खभात बसने का उल्लेख है।

४—श्री अर्बुद प्राचीन जैन लेख सदोह के लेखाक ३१५ मे चित्रकूट के संघपति तेजल पुत्र सा पासदेव, रामचद्र ने अपने गुरु श्री तिलकभद्र सूरि शिष्य देवेन्द्र सूरि के साथ साह पूना मह चाहडशाह, सोमसिंह, मह बीजा, मडा चापू आदि समुदाय सह आर तीर्थ की स १३५६ के जेठ वदी ११ को यात्रा करने का उल्लेख है।

५—सोमप्रभ सूरि (स १३५८ लगभग) ने चित्तौड मे विप्रों की सभा मे जय प्राप्त की।

विविध तीर्थकल्पानुसार स १३५६ मे अल्लाउद्दीन के भ्राता उल्लुखान के गुजरात पर चढ़ाई करने के समय चित्तौड के अधिपति समरसिंह ने दण्ड देकर मेवाड की रक्षा की (स १३६० में अल्लाउद्दीन ने चित्तौड पर अधिकार किया)

६—नाहरजी सपादित जैन लेख सग्रह के लेखाक १६५५ में स १३६२ के लेख में चित्रकूट का उल्लेख है। यह लेख इसी पत्रिका के प्रथम अक में विवेचन सह प्रकाशित हो चुका है। (भोपाल सागर-करेडा के जैन मन्दिर का शिलालेख, श्रीयुत प नाथूलाल भागीरथ व्यास पृष्ठ ५०)। (क्रमश)

सम्पादकीय

१—राजस्थानी इतिहास सम्बन्धी अज्ञान को दूर करने के लिए आवश्यक आयोजन

अपने जिस इतिहास के आधार पर ही राजस्थान का यह वर्तमान गौरव और महत्व बना हुआ है, राजस्थान ने सर्वदा से उसी इतिहास की पूरी-पूरी उपेक्षा की। यही कारण है कि आज राजस्थान-निवासी अपने प्रान्तीय या जातीय इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। मेवाड़ के कितने निवासी महाराणा कुंभा की विद्वत्ता तथा उसके विस्तृत राज्य का ठीक-ठीक विवरण जानते हैं। महाराणा सांगा के प्रारम्भिक जीवन, उनकी नीति तथा कन्हावा के युद्धकालीन राजस्थान की राजनैतिक परिस्थिति से कौन परिचित है? मालदेव के महत्व, चन्द्रसेन के त्याग और अनूपसिंह के साहित्य-प्रेम से कौन अनभिज्ञ नहीं है? भारतीय ज्योतिष के इतिहास में सवाई जयसिंह का क्या स्थान है, यह जानने के लिए कौन प्रयत्नशील हुआ है? मध्यकालीन भारत में जैसलमेर राज्य का क्या महत्व रहा है, किस प्रकार वह राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बना और आगे चलकर उसी व्यापार का सर्वदा के लिए क्यों अन्त हुआ, इसका किसने अध्ययन किया है? और राजस्थान को उस अराजकता पूर्ण शताब्दी की वे अनगिनित उज्ज्वल या कालिमापूर्ण घटनाएँ—अठारहवी शताब्दी में मरहठों की वे अगणनीय हार-जीतें और उनमे दिखाई गई राजपूतों की वह अनोखी वीरता—तुंगा और मेड़ता के वे चिरस्मरणीय युद्ध-कितने राजस्थान वासियों को आज भी उन सब का स्मरण है! राजस्थान मे निरन्तर होने वाले वे अनेकों गृह-युद्ध और उनके फल स्वरूप राजस्थान में सर्वत्र फैलने वाली वह भयंकर अराजकता तथा शोचनीय बरबादी जिन जातीय त्रुटियो की ओर निर्देश करती हैं, उनको दूर करने के लिए आज कौन ध्यान दे रहा है?

साधारण जन-समाज की बात छोड दें, फिर भी राजस्थान-निवासी इतिहास के विद्यार्थियों को भी प्रायः इन सब का नाम-मात्र को ज्ञान नहीं होता है। राजस्थान का प्रान्तीय इतिहास पढ़ने-पढ़ाने की ओर अब तक किसी ने भी ध्यान नहीं दिया। अखिल भारतवर्षीय दृष्टि से राजस्थान के इतिहास का विशेष महत्व न होना स्वाभाविक है, तथापि राजस्थान के लिए तो उसका विशेष

महत्त्व होना चाहिये। आज राजस्थान के नवयुवा इंगलैण्ड का जितना इतिहास जानते हैं, अपने प्रान्तीय इतिहास का उनका ज्ञान उसका शतांश भी नहीं होगा। यह परिस्थिति बहुत ही शोचनीय है। आज राजस्थान स्वाधीन भारत का अंग बन कर अपने प्रान्तीय भविष्य का स्वयं निर्माण करने को उत्सुक हो उठा है, परन्तु यह निर्माण-कार्य किस आधार पर किया जावेगा ? इस निर्माण के समय हम अपनी जातीय निर्बलताओं तथा परस्पर-विरोधी अंगों की ओर ध्यान न देंगे तथा अराजकतात्मक प्रवृत्तियों को दबाने के लिए विशेष आयोजन न करेंगे तो हमारे पुनर्निर्माण के इन प्रयत्नों को विफल होने में देरी नहीं लगेगी।

इस अज्ञान को दूर करने को हमारे लिए यह आवश्यक हो गया है कि तत्काल ही उसके लिए प्रबल प्रयत्न किए जावें। ये प्रयत्न दो निश्चित दिशा में होने चाहियें। प्रथम तो हम जनता के लिए सुलभ एवं सुगम्य ऐतिहासिक साहित्य का निर्माण कर सर्वत्र उसका प्रचार करना होगा। "वीर विनोद" युगों तक ताले-डिब्बों में बन्द रहा, और आज भी अपनी बहुमूल्यता के कारण वह सर्व साधारण के लिए सुलभ नहीं है। ओझाजी के ग्रन्थ भी इसी बहुमूल्यता के कारण दुर्लभ ही रहे और उन विस्तृत ग्रन्थों को पढ़ने का साधारणतया किसे अवकाश मिलता है? रेऊजी का इतिहास केवल विद्वानों के ही पढ़ने की वस्तु है, उससे साधारण पाठक का मनोरंजन नहीं हो सकता। अतएव जहां ये पुराने ग्रन्थ नए ग्रन्थों के निर्माण में सहायक हो सकेंगे, वे उनकी आवश्यकता को पूरी नहीं कर सकते।

हमारे इस नवीन कार्यक्रम का दूसरा कार्य होगा, राजस्थान के स्कूलों और कालेजों में राजस्थानी इतिहास पढ़ाए जाने की विशेष व्यवस्था करना। जब तक हम इलाहाबाद तथा आगरा के विश्व विद्यालयों या बोर्डों का मुँह ताकते रहे, तब तक इस बात की आशा करना या उसके लिए आग्रह करना अनुचित ही होगा, परन्तु अजमेर में राजपूताना-सेंट्रल इण्डिया तथा ग्वालियर बोर्ड की स्थापना होने के बाद यह आशा की जाती थी कि प्रांतीय इतिहास के अध्ययन की ओर वह विशेष रूपसे ध्यान देगा। किन्तु वह आशा निराशा में ही परिणत हुई। आज तो जयपुर में नव स्थापित राजपूताना विश्व विद्यालय ने इस प्रांत की शिक्षा के निर्देश का भार उठाया है। ऐसी हालत में उसका यह प्रधान कर्तव्य हो जाता है कि प्रान्तीय इतिहास के अध्ययन आदि का वह समुचित प्रबन्ध करे। राजपूताना विश्वविद्यालय का नवीन कार्यक्रम बन रहा है, ऐसे समय हमारी इन प्रान्तीय आवश्यकताओं की ओर उसका ध्यान आकर्षित कर उन कमियों को पूरा करवाने के लिए आयोजन करने का हमें पूरा पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

आज भी हमारे स्कूलों की छठी कक्षा में ही प्रायः इतिहास पठन का प्रारम्भ होता है और उस कक्षा में 'भारतीय इतिहास की सरल कहानियां" या उसी प्रकार की पुस्तकें पढ़ाते हैं। यदि उससे भी सरल भाषा में लिखवा कर "राजस्थान के इतिहास की सरल कहानियों" की पुस्तकें पाँचवीं कक्षा में पढ़ाई जावें तो उससे प्रान्तीय इतिहास सम्बन्धी जानकारी का प्रारम्भ बहुत ही उचित रूप में हो जावेगा। आगे चल कर हाईस्कूल परीक्षा में "राजस्थान का इतिहास" प्रत्येक विद्यार्थी के लिए एक अनिवार्य विषय बना दिया जाना चाहिये, जिससे परीक्षा के लिए कोई हो

घण्टे का एक अलग परचा दिया जावे। अन्य विषयों की तरह इस विषय में भी पास होना आवश्यक हो और इसकी पढ़ाई भी ६ वीं कक्षा से प्रारम्भ हो। कालेज की कक्षाओं में भी राजस्थान का इतिहास भारतीय इतिहास के एक विशिष्ट अंग के रूप में रखा जाना चाहिए, तथा एम० ए० की परीक्षा में इतिहास विषय लेने वाले विद्यार्थियों के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि वे राजस्थानी इतिहास के किसी एक विशिष्ट काल का पूरा २ अध्ययन करें।

प्रारम्भ में उपर्युक्त पाठ्य पुस्तकों के अभाव के कारण कुछ असुविधा अवश्य होगी, परन्तु आवश्यक पाठ्य पुस्तकों को लिखवाने में न तो अधिक समय ही लगेगा और न कोई विशेष कठिनाई ही होगी। राजस्थानी इतिहास की खोज मे पाई जाने वाली कमियों तथा तत्सम्बन्धी साहित्य की आवश्यकताओ की ओर पहिले ही निर्देश किया जा चुका है। आज स्कूलों और कालेज में पढ़ाने के लिए जिन ग्रंथों की रचना की जावेगी पूरी-पूरी-खोज के अभाव में वे इतिहास-ग्रंथ अधूरे या त्रुटिपूर्ण अवश्य होगे, फिर भी उस आवश्यक खोज के पूरी होने तक की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती है। ये ग्रंथ तत्काल ही लिखवाए जाने चाहिए और इसके लिए राजपूताना विश्वविद्यालय को विशेष आयोजन करना चाहिए। इस विश्वविद्यालय को चाहिए कि वह जल्द ही अपने इतिहास विभाग को आदेश दे कि इस सारे प्रश्न को पूरी तरह अध्ययन कर तत्सम्बन्धी आवश्यक प्रस्ताव और आयोजन पेश करे कि उन पर उचित विचार के वाद आवश्यक कार्यवाही की जा सके।

सीतामऊ]

—रघुवीरसिंह

२—भारतीय लोक-साहित्य का कार्य

यूरोपीय भाषाओं में लोक-साहित्य तथा लोक-वार्ता के विज्ञान के संबन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। भारतीय भाषाओं में लोक-विज्ञान सर्वथा उपेक्षित रहा है, यह तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु फिर भी इस विशाल देश और इसकी लोक-परम्पराओं को देखते हुए जितने साहित्य का निर्माण होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। लोक-साहित्य के क्षेत्र में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त करने वालो में उल्लेखनीय हैं स्व० श्री झवेरचन्दजी मेघाणी तथा श्री देवेन्द्र सत्यार्थी। 'माडर्न रिव्यू' मे प्रकाशित श्री सत्यार्थीजी के लेखों की तो स्व० श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी वड़ी प्रशंसा की थी। सत्यार्थीजी के कार्य की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने सभी प्रान्तों से सम्वन्ध रखने वाले लोक-गीतों पर वड़े सहृदयतापूर्ण निवन्ध लिखे हैं। बंगला तथा गुजराती में लोक-साहित्य से सम्वन्ध रखने वाली जितनी वैज्ञानिक पुस्तकें आज उपलब्ध हैं, उतनी हिन्दी और राजस्थानी मे नहीं। हिन्दी में श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लोक-गीतों के संग्रह और संपादन का कार्य प्रारंभ किया था, स्वर्गीय श्री सूर्यकरणजी पारीक ने वर्गीकरण और विश्लेषण द्वारा लोक-गीतों के वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया था। श्री वनारसीदासजी द्वारा चलाये हुए विकेन्द्रीकरण आन्दोलन के प्रारम्भ होने पर लोक-साहित्य को अवश्य वल मिला। स्वयं उन्होने 'मधुकर' द्वारा बुन्देलखण्ड के लोक-साहित्य को प्रकाश में लाने का प्रशंसनीय कार्य किया। सन् १९४४ मे टीकमगढ़ से श्री कृष्णानन्दजी गुप्त के सम्पादकत्व में 'लोकवार्त्ता' नामक एक त्रैमासिक

पत्रिका का निकलना प्रारम्भ हुआ, किन्तु उसके भी कुछ ही अंक निकल पाये, बाद में वह पत्रिका भी बन्द हो गई। लोकविज्ञान के संबन्ध में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयास था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे जनपद साहित्यानुरागी लेखकों का सहयोग भी इस पत्रिका को प्राप्त था। हम श्री कृष्णानन्दजी से अनुरोध करेंगे कि परिस्थितियों के अनुकूल होते ही वे इस पत्रिका को फिर से प्रारम्भ करें। व्रजसाहित्य मण्डल मथुरा व्रजभाषा के लोक-साहित्य को प्रकाश में लाने का प्रशसनीय कार्य कर रहा है। भोजपुरी गीतो के भी अच्छे सग्रह देखने को मिले हैं। भोजपुरी कहावतों और मुहावरों का भी अध्ययन हुआ है। महाकोशल के वार्ता-साहित्य से सम्बन्ध रखने वाली Folk tales of Mahakoshal नामक उपयोगी पुस्तक कुछ वर्ष हुए प्रकाशित हुई है। राजस्थानी लोक-साहित्य के सम्बन्ध में राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता (जिसका अब राजस्थानी साहित्य परिषद के नाम से पुनरुत्थान हुआ है), हिन्दी विद्यापीठ उदयपुर, बगाल हिन्दीमण्डल कलकत्ता की पिलानी स्थित शाखा तथा बिड़ला कालेज पिलानी आदि सस्थाओं द्वारा सग्रह और सपादन का उपयोगी कार्य हो रहा है। श्री सूर्यकरण पारीक स्मारक साहित्य समिति द्वारा प्रकाशित 'चौबोली' का तो गुजराती भाषा में भी अनुवाद हो चुका है। राजस्थानी साहित्य परिषद कलकत्ता से 'राजस्थानी' नामक एक निबन्धमाला हाल ही में प्रकाशित हुई है। अन्य अमूल्य सामग्री के साथ लोक-साहित्य विषयक प्रचुर सामग्री भी इसमे है। इस निबन्धमाला की हम हृदय से सफलता चाहते हैं। हमारा विश्वास है कि प्रगतिशील साहित्य के इस युग में लोक-साहित्य को अवश्य ही प्रोत्साहन मिलेगा।

पिलानी] —कन्हैयालाल सहल

३—भारतीय कला में मिश्रण

जिस प्रकार यह देश समय-समय पर विदेशी जातियों का निवास स्थान और आतिथ्य गृह बना रहा उसी तरह उसने सदा ही विदेशी परपराओं को अपने में समाविष्ट किया है। इस लिए आज यह कहना अत्यन्त कठिन है कि विशुद्ध भारतीय परपरा कौन सी है। इस देश में द्रविड, आर्य, सीथियन, हूण, गुर्जर, शक, मुसलमान आदि आते रहे और अपनी सस्कृति, कला और रीति-नीति के साथ यहाँ की परपराओं में इस तरह घुलमिल गये कि उनमें से आज अधिकांश का अस्तित्व मालूम करना ही कठिन हो गया है। इसका मूल कारण इस देश की सस्कृति का नवीनता के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रबल गुण है। ये विविध जातियाँ अपनी विशेषताएँ लेकर आई और स्वय इस देश में अपना अस्तित्व मिटा कर अपने विविध सांस्कृतिक तत्वों को विशुद्ध भारतीय तत्वों के मांगलीकरण में प्रयुक्त कर गई। यही कारण है कि आज ज्यों ज्यों हमारी संस्कृति पुरानी होती गई त्यों त्यों उसमें नवीनता परिपुष्टता और विभिन्नता आती गई। यह प्रभाव वैदिक कालीन सस्कृति से लेकर आज तक की सस्कृति में परिलक्षित होता है। साहित्य, कला, रीतिरिवाज, वेशभूषा, खान पान आदि अनेक सांस्कृतिक तत्वों में उत्तरोत्तर इस देशी और विदेशी मिश्रण से एक प्रकार की सजीवता अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। वैदिक कालीन विशुद्ध,

सरल और ओजपूर्ण काव्य में जो सादगी और एकरूपता है वह पौराणिक साहित्य में अनेकरूपता और सरसता में परिवर्तित हुई। तब तक विविध बाह्य संसर्गों से हमारा साहित्य बहुरंगी और विभिन्नताओं से युक्त हुआ और उत्तरोत्तर यह रसात्मकता और विचित्रता बढ़ती ही गई। यह समृद्धि केवल साहित्य तक ही सीमित न रही वरन संगीत, चित्रकला, स्थापत्य आदि में तो वह एक अद्वितीय आकर्षण लेकर उपस्थित हुई। विशुद्ध भारतीय स्थापत्य यूनानी प्रभाव के कारण जितना आकर्षक और सजीव बना वह ई. पू. ३२५ के स्थापत्य के नमूनों में परिलक्षित होता है। अजन्ता के पूर्व के जितने भी कलावशेष उपलब्ध होते हैं उनमें रेखाओं और भावों की शुष्कता स्पष्ट दिखाई देती है, परंतु अजन्ता के चित्रों की भाव भंगियों में बाह्य प्रभाव के कारण जो सजीवता और भावों की उत्कृष्टता उपलब्ध होती है वह इसके पूर्व की कला में नहीं।

यह सच है कि समय और स्थिति के कारण कला में केवल परिवर्तन ही नहीं कहीं-कहीं अवनति भी हुई है। परंतु उसका कारण केवल बाहरी प्रभाव या मिश्रण नहीं। वह तो देश की राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से हुई है। परन्तु आधुनिक युग को छोड़ कर जहाँ-जहाँ केवल विशुद्ध सांस्कृतिक और कलात्मक मिश्रण हुआ है वहां तो अधिकांश में कला को सजीवता और समृद्धि ही प्राप्त हुई है। आधुनिक युग इस दृष्टि से अपवाद स्वरूप है। यह युग औद्योगीकरण, भौतिकवाद और आर्थिक संघर्ष का है; कला के निर्माण के लिये उपयुक्त भाव सामग्री का नितान्त अभाव है। अतः इस युग मे विश्व संकुचित दायरों से निकल कर विस्तृत दायरे में अवश्य आ रहा है और सांस्कृतिक मिश्रण भी पर्याप्त मात्रा में हो रहा है; परन्तु अन्य विरोधी शक्तियाँ कला के स्वस्थ उत्पादन में इतनी बाधक हैं कि अनेक संस्कृतियो एक संस्कृति का रूप धारण करते हुए भी कला में समृद्धि का नितान्त अभाव स्पष्ट है।

अतः यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि सांस्कृतिक मिश्रण कला की समृद्धि में तभी सहायक होता है जब उसके लिए आवश्यक आध्यात्मिक और भावात्मक पृष्ठभूमि विद्यमान हो। ये सब प्राचीन समय में विद्यमान थे। और जब-जब उनका समतुलन बिगड़ता गया, हमारी कलाएं भी गिरती गई। परशियन स्थापत्य संगीत और साहित्य जब आध्यात्मिक और भावात्मक रूप लेकर भारतवर्ष मे मुसलमानों के साथ आया और भारतीय तत्वों के साथ मिश्रित हुआ तो उस मिश्रण से सूफी साहित्य, मध्यकालीन नयनाभिराम स्थापत्य और ख्याल शैली के रसपूर्ण संगीत की सृष्टि हुई। यह समृद्धि मुगलों के समय साहित्य, संगीत और चित्रकला के क्षेत्र में और भी अधिक बढ़ गई। अकबर, जहांगीर, शाहजहां जैसे उदार, रसिक, कलाप्रेमी और सहिष्णु सम्राटों के समय हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का मिश्रण अत्यंत सुन्दर और आकर्षक रंग से हुआ और उसके अवशेष आज भी तत्कालीन महाकवि सूर, तुलसी और जायसी के काव्योत्कर्ष, तानसेनी संगीत की सुन्दरता और मुगल कलम की बारीकी और रंगीनियों मे परिलक्षित होते हैं। हमारे देश में जब-जब सांस्कृतिक दृष्टि से विदेशी परंपराओ के बहिष्कार की नीति रही है तब तब हमारी कलाओ की सौन्दर्य-वृद्धि रुकी ही नहीं, वह विकृत और एकांङ्गी भी

हुई है। इस तरह की कट्टरता की भावना हमने धार्मिक कट्टरता के रूप में कई बार दर्शाई है, जिसका परिणाम हमारी कला और साहित्य पर अच्छा नहीं पड़ा। १६ वीं शताब्दी में, चाहे किन्हीं राजनैतिक कारणों से हो, हमने जीवन के अनेक क्षेत्रों में धार्मिक असहिष्णुता और कट्टरता का परिचय दिया, जिसके फल स्वरूप हमारा सामाजिक जीवन तो विछिन्न हुआ ही हमारी कलाएँ भी गिर गईं और हम पुन सांस्कृतिक पृथक्कीकरण की दृष्टि से सोचने लगे। ये कड़वे बीज, जो आज से पचास साठ वर्ष पूर्व हमारे देश में बोये गये उनके परिणाम केवल राजनैतिक क्षेत्र ही में नहीं, कला और साहित्य के क्षेत्र में, सांस्कृतिक निर्धनता के रूप में दृष्टिगत होते हैं, अत हमें सांस्कृतिक और कलात्मक क्षेत्र में, रूढीवादी, संकीर्ण और सम्प्रदायवादी बन कर उदार होने की अत्यंत आवश्यकता है। हमारे देश को यदि कला के क्षेत्र में आगे आना है, तो उसे इस खतरे से बचना चाहिये। राजनीति की कुटिल चालों से अछूता सांस्कृतिक सम्मिश्रण कला और साहित्य के लिए अत्यंत स्वस्थ और उपादेय है।

उदयपुर]

देवीलाल सामर

समीक्षा

१–बिबलोग्राफी ऑफ दी पब्लिश्ड राइटिंग्ज ऑफ पी. के. गोडे एम. ए., क्युरेटर, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना। सन् १९४७, पूना।

श्री. पी. के. गोडे के तीस वर्ष के उत्कृष्ट शोध-कार्य की यह विवरणी ऐतिहासिक शोध के जिज्ञासुओं तथा प्रेमियों के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस विवरण में श्री. गोडे के विविध विषयों सम्बन्धी शोध-पूर्ण ३२९ मौलिक निबन्धों का परिचय दिया गया है। साथ ही निबन्ध जिन पत्र-पत्रिकाओं आदि में प्रकाशित होते रहे हैं, उनका भी उल्लेख कर दिया गया है। आगे श्री. गोडे द्वारा संगृहीत अथवा सम्पादित ग्रन्थों की भी सूची दी हुई है।

श्री. पी. के. गोडे के कुछ शोध-पूर्ण निबन्ध मैंने पढ़े हैं। गोडेजी की मौलिक शोध-वृत्ति, व्यापक अध्ययन तथा गम्भीर विचारणा तथा विवेचन-शक्ति से मैं सदा प्रभावित हुआ हूं। उनके द्वारा लिखित निबन्धादि की यह विवरणी मेरी इस मान्यता को और भी दृढ़ करती है।

गोडेजी के शोधात्मक निबन्ध किसी एक विषय पर नहीं हैं। साहित्यिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, आयुर्वेदिक आदि विविध विषयों से सम्बन्धित ऐतिहासिक शोध-पूर्ण निबन्ध आपने लिखे हैं। प्राचीन ग्रन्थों, लेखकों और घटनाओं आदि के समय-निर्धारण में आपके बहु-संख्यक निबन्ध बड़े उपयोगी और महत्व के रहेंगे। भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अनेक वर्तमान परम्पराओं तथा स्वीकृत विधियों और प्रणालियों के मूल विचार या श्रोत के समझने में भी आपके कई लेख बड़े काम के हैं। सामान्य जन किसी वस्तु के सामान्य परिचय मात्र से सन्तोष कर सकता है, पर तत्वदर्शी केवल उतने से सन्तोष-लाभ नहीं कर सकता। गोडेजी के निबन्ध ऐसे व्यक्तियों के लिये यथेष्ठ बौद्धिक तुष्टि-तत्व का काम करेंगे।

विवरणी को देख कर सहज ही यह विचार मन में आता है कि कितना अच्छा हो यदि इन विविध विषयक निबन्धों का ठीक से वर्गीकरण कर श्री. गोडे इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करवा सकें। देश की प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं को यह काम अपने हाथ में लेना चाहिये। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह प्रकाशन देश-विदेश के वैज्ञानिक रूप से ऐतिहासिक शोध तथा अध्ययन करने वालों के लिये अत्यन्त उपयोग की वस्तु सिद्ध होगा।

गोडेजी के सभी निबन्ध अंग्रेजी में हैं। अत अवश्य ही देशी भाषाओं मात्र के जानने वाले जिज्ञासु जन उनसे लाभ उठाने से वंचित ही रहेंगे। पर गोडेजी इस सम्बन्ध में कितनी सहायता कर सकते हैं—यह मैं नहीं जानता। शायद वे इस स्थिति में हों कि कम से कम अब भविष्य में अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये सामान्य राष्ट्र भाषा का अवलम्बन ले सकें।

जो हो, श्री गोडे जी महत्वपूर्ण शोध विषयक देन के लिये हम उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं और भविष्य में भी उनसे बहुत कुछ जानने और पाने की आशा रखते हैं।

—विपिन विहारी जी वाजपेयी

एम ए 'साहित्य रत्न'

२—*केटलाग आफ दि राजस्थानी मेन्युस्क्रिप्ट्स इन दि अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर।*

[प्रकाशक—बीकानेर राज्य, पृ स १८१, ई स १६४७ साइज १८×२२, डिमाई चार पेजी, मूल्य अंकित नहीं।]

बीकानेर का अनूप संस्कृत पुस्तकालय राजस्थान की महान् निधि है। यह भारत के देशी राज्यों में उच्च कोटि का पुस्तकालय है। वहां सहस्रों की संख्या में संस्कृत और हिन्दी वाङ्मय के हस्त लिखित प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनकी मुद्रित सूची न होने से विद्वत समुदाय उनसे अपरिचित ही था। सब से पहले जोधपुर के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी मुन्शी देवीप्रसादजी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा की मुख-पत्रिका (प्राचीन संस्करण) में उक्त पुस्तकालय की कुछ पुस्तकों की सूची प्रकाशित कर उसका महत्व अंकित किया। इसके पीछे स्वर्गीय श्री, राजेन्द्रलाल मिश्र और डा टैसीटोरी ने पृथक-पृथक रूप से डिस्क्रिप्टिव केटेलागस प्रकाशित कर संस्कृत तथा राजस्थानी साहित्य की पुस्तकों का बहुत कुछ परिचय करवाया। किन्तु पुस्तकालय की विषयानुक्रम से पूर्ण सूची न बनने के कारण यह कार्य अपूर्ण ही रहा। प्रसन्नता का विषय है कि अब बीकानेर राज्य ने इस ओर ध्यान दिया है।

इसमें काव्य, इतिहास, पुराण, माहात्म्य, व्रत कथा, धर्म शास्त्र, स्तोत्र, छन्द, नीति, काम शास्त्र, वैद्यक ज्योतिष, यन्त्र मन्त्र तन्त्र, और वेदान्त विषय के ३६० राजस्थानी ग्रन्थों का वर्णन है। प्रत्येक विषय में पृथक पृथक विभागीकरण किया गया है—जैसे इतिहास में ख्यात, वात विगत, पीढ़ी वंशावली, जन्म-पत्री, महा भारत और रामायण। इस रीति से चौदह विषयों में यह सूची समाप्त की गई है। अनुक्रमांक, विषयांक, नाम रचयिता, पत्र-संख्या, तथा रचना काल देने के अतिरिक्त विशेष विवरण में लिपिकर्ता आदि का नाम तथा परिचय अनेक भी यथा सम्भव प्रयत्न किया गया है। अन्त में अकारादि क्रम से पुस्तकों, ग्रन्थकारों,

लिपिकारों और संग्रहकर्त्ताओं की अनुक्रमणिका दी है। इसके अतिरिक्त रचनाकाल और तिथि काल की सूची भी दी है, जिससे पाया जाता है कि राजस्थानी साहित्य की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में सब से प्राचीन प्रति वि. सं. १५७५ की विद्यमान है।

वैसे यह सूची केवल ३६० पुस्तकों की है, परन्तु कई पुस्तकों में नामांकित पुस्तक के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें भी सम्मिलित हैं, उनका भी परिचय देने में न्यूनता नहीं की गई है, जिससे संख्या क्रम बढ़ कर सूची का कलेवर परिपुष्ट हो गया है।

इस सूची को देखते हुए यह मानने में आपत्ति नहीं होती कि राजस्थान के निवासियों ने अपनी भाषा को स्वतंत्र बनाने के लिये प्रत्येक भांति से उद्योग किया एवं उनके साहित्य में सर्वतोमुखी प्रतिभा विकसित हुई। इससे यह भी सिद्ध होता है कि राजस्थानी साहित्य अपना पृथक अस्तित्व रखता है और वह सर्वांग पूर्ण है।

अनूप संस्कृत लाइब्रेरी को समुन्नत बनाने का श्रेय महाराजा अनूपसिंहजी को है; किन्तु उनके उत्तराधिकारियों का भी निरन्तर इस ओर ध्यान रहा, जिससे वह आदर्श पुस्तकालय होगया है। इस प्रकाशन के लिये बीकानेर सरकार धन्यवाद की पात्र है।

—पं. नाथूलाल भागीरथ व्यास

प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान

प्रगति विवरण

चारण गीत माला—श्रीमान् प विश्वेश्वरनाथजी रेऊ, अध्यक्ष पुरातत्व विभाग, जोधपुर (राजपुताना) ने कृपा कर मेवाड सम्बन्धी ६३ गीतों को भेजने की स्वीकृति प्रदान की है। शोध-सस्थान इस सहयोग के लिए माननीय श्रीमान् रेऊजी का अत्यंत आभारी है। आशा है इसी प्रकार अन्य स्थानों से भी चारण गीत शोध-सस्थान को प्राप्त होते रहगे। अब संग्रहालय में चारण गीतों की सख्या १३२० हो गई है।

पृथ्वीराज रासो सपादन-कार्य—रासो के ३७ प्रस्तावों का सम्पादन-कार्य समाप्त हो चुका है। कुछ स्थानों से रासो की प्राचीन प्रतियों का पता और लगा है किन्तु अभी वे प्रतिया कार्यालय में नहीं प्राप्त हुई हैं। आशा है शीघ्र ही ये प्रतियाँ रासो कार्यालय को प्राप्त हो जायगी।

राजस्थानी कहावत माला—चौथे भाग के लिए कई नवीन मेवाड का कहावतें प्राप्त हुई हैं। इनका सम्पादन मेवाड की कहावतें भाग २ के अन्तर्गत श्रीयुत् प लक्ष्मीलालजी जोशी एम ए एलएल बी कर रहे हैं।

महाकवि सूर्यमल आसन—आसन के चतुर्थभाषक श्रीमान् मुनि जिनविजयजी के भाषण सभवत आगामी ग्रीष्म ऋतु में होंगे।

शोध-पत्रिका—शोध पत्रिका एक अक पिछड गई है। अब इसके मुद्रण का स्थाई प्रबन्ध श्रीयुत जीवनसिंहजी मुराणा और श्रीयुत गोपीकृष्णजी गर्ग बी ए एलएल बी इन्दौर की कृपा से हो गया है। दोनों महानुभाव विद्यापीठ के प्रमुख पोषक हैं और इसके लिये उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय उतना थोड़ा है। मार्डन प्रिन्टर्स लिमिटेड, इन्दौर के सचालक श्रीयुत चन्दूलालजी शाह का सहयोग भी परम सराहनीय है। शोध-पत्रिका के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकाशन भी आपके सहयोग से सुन्दरता पूर्वक होंगे, इसकी पूरी आशा है। एक दो अकों की परिस्थिति वश कम पृष्ठों का निकालना पड रहा है। पाठकों से इसके लिये क्षमा प्रार्थना है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन का आगमन— गत तिमाही के निरिक्षकों में श्रीयुत महा पं० राहुल सांकृत्यायन का नाम उल्लेखनीय है। आपने विद्यापीठ वार्षिकोत्सव का सभापतित्व किया। उदयपुर में अपने कई भाषणों में आपने जनपदीय शोध-कार्य का महत्व स्पष्ट किया और देश भर के लिये लोक साहित्य और लोक कला के उत्थान का कार्य आवश्यक बताया। इससे मेवाड़ में इस कार्य के लिये रुचि उत्पन्न हुई है और आशा है इसके अच्छे परिणाम शीघ्र ही प्राप्त होंगे।

प्रेस के लिये प्रस्तुत कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ— १--राजस्थान में हिन्दी के हस्त लि. ग्रन्थों की खोज भाग ३. (श्रीयुत उदयसिंह भटनागर एम. ए.) २—राजस्थान में हिन्दी के हस्त लिखित ग्रन्थो की खोज भाग ४ (श्रीयुत अगरचन्द नाहटा), ३--चारण गीत माला भाग १— (श्रीयुत पुरुषोत्तम मेनारिया "साहित्य रत्न" सहकारी सम्पादक श्रीयुत सांवलदान आशिया) ४—राजस्थानी कहावत माला भाग २. (श्रीयुत रतलाल मेहता बी. ए. एल एल. बी.), ५.—राजस्थानी कहावत माला भाग ३. (श्रीयुत पुरुषोत्तम मेनारिया "साहित्य रत्न")

प्रेस में—१—राजस्थानी भाषा (श्रीयुत डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या एम. ए. डी. लिट), २—शोध-पत्रिका भाग १ अंक ४ [जनवरी सन् १९४८ ई०]

—पुरुषोत्तम मेनारिया
संचालक

पत्रिका-परिचय और नियम

१—यह प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान, उदयपुर विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका है।

२—इसमें १-प्राचीन साहित्य मुख्यतः प्राचीन राजस्थानी साहित्य, २-लोक-साहित्य, ३-हास, ४-पुरातत्व, ५-वनस्पति शास्त्र और ६-कला, भाषा शास्त्र आदि वि शोध पूर्ण निबन्ध रहेंगे। साथ ही शोध-समाचार, साहित्य-समीक्षा आदि क समावेश होगा।

३—राजस्थान इसका प्रमुख क्षेत्र रहेगा।

४—निबन्ध में प्रगट किये गये विचारों के लिये उनके लेखक ही उत्तरदायी होंगे।

५—लेखकों को प्रकाशित निबन्धों के २५ रीप्रिन्ट सम्बन्धित प्रति के अतिरिक्त किये जाएँगे।

६—समालोचनार्थ पुस्तकों की दो प्रतियां आनी आवश्यक होंगी। एक प्रति आने पर उ लिये धन्यवाद देने के साथ प्राप्ति-स्वीकार की जायगी।

७—पत्रिका का वार्षिक मूल्य ६) रु० तथा एक प्रति का १॥) रु० है।

८—किसी भी अंक से ग्राहक बनाये जा सकेंगे, किन्तु वर्ष से कम के लिये नहीं।

९—पत्रिका प्रतिवर्ष-चैत्र, आषाढ, आश्विन और पौष (मार्च, जून, सितम्बर तथा दिसम्बर) प्रकाशित हो जाया करेगी।

निवेदन

'शोध पत्रिका' अपने क्षेत्र में अधिकाधिक उपयोगी बने - इसका पूरा प्रयत्न किया जा रहा है। दूसरे वर्ष से इसमें आवश्यक परिवर्तन करने का भी निश्चय किया गया है। पा से निवेदन है कि वे कृपा कर अपने सुझाव अवश्य दें एवं ग्राहक बनें।

—प्रबन्ध सम्पा

प्रकाशक :—
मंत्री, शोध-संस्थान विद्यापीठ उदयपुर
मुद्रक—मॉडर्न प्रिन्टरी लि., इन्दौर.

'सरस्वती देवयन्तो हवन्त'

शोध-पत्रिका

राजस्थान विश्व विद्यापीठ

महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका



भाग १, अङ्क ४] [पौष सं. २००४

भाग १, अंक ४.

शोध-पत्रिका

[प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान, राजस्थान विश्व-विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका]

भाग १	उदयपुर, [संयुक्त राजस्थान]	अङ्क ४

[१७] प्राचीन भारत में पुस्तकालय

[श्रीयुत डॉ० बी० भट्टाचार्य एम० ए०, पी० एच० डी०]

प्रागैतिहासिक भारत में ईसा के दो सहस्र वर्ष पूर्व लेखन-कला अज्ञात नहीं थी, यह पंजाब में हरप्पा की खुदाई, सिन्ध में मोहन्जोदड़ो के अन्वेषण और बलूचिस्तान में नाल की खोज से प्राप्त मुद्रित, पात्रपत्रों एवं मुद्राओं (मोहरों) से बिना किसी सन्देह के सिद्ध हो जाता है। प्राचीन ऐतिहासिक समाधिस्थलों पर निर्मित स्मारक शिलाओं पर अंकित वर्णों से, जो दक्षिण हैदराबाद से प्रचुरमात्रा में मिले हैं, यह बात विदित होती है कि प्राचीन भारत के सबसे पूर्व के साहित्य —वेदों— के साथ लेखन कला का भी अस्तित्व था। अतएव हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व यहाँ व्यक्तिगत और सार्वजनिक पुस्तकालय अवश्य रहे होंगे।

वैदिक मंत्र-द्रष्टा किसी भी प्रकार अपनी विद्या को लिपिबद्ध कराने के पक्ष में नहीं थे किन्तु वे चाहते थे कि धार्मिक साहित्य का शिक्षण गुरु से शिष्य तक मौखिक ही हो और वाणी द्वारा ही अध्ययन के आदेश मिलें। वेद और साहित्य इस सिद्धान्त पर स्थिर हैं। अतः वे स्मृति-पुस्तकालय के रूप में सुरक्षित थे, जो वैदिक काल की एक प्रमुख विशेषता है। वेदों की और वैदिक साहित्य की शुद्धता गुरु परम्पराओं से सुरक्षित थी और विद्यार्थियों को वेद नाना प्रकार के उपायों से सीखने पड़ते थे, जिन्हें स्वर, पद, पदपाठ, क्रमपाठ, घनपाठ तथा जटापाठ कहते हैं।

महाभारत के युद्ध ने—जो आधुनिक खोज के अनुसार ईसा से अनुमानतः पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व हुआ—असंख्य वीर—गीतों को विकास दिया, जो सार्वजनिक सभाओं एवं यज्ञ सम्बन्धी धार्मिक परिषदों में गाये जाते थे और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक मौखिक रूप से चलते रहते थे। बाद में यह सब गीत एक हजार वर्ष के पश्चात् लिखित बना लिये गये और इसी संग्रह को आज हम महाभारत कहते हैं।

बौद्ध-धर्म में बुद्ध ने जीवन पर्यन्त अपने अनुयायियों को उपदेश दिया था; पर एक भी सूत्र ऐसा नहीं मिलता कि वे कभी लिखित संदेश के रूप में रहे हों। बुद्ध का निर्वाण होने के पश्चात् उनके शिष्य और अनुयायी उनके विविध समयों पर विविध शिष्यों को दिये गये धर्मोपदेशों को गाने और एकत्रित करने के लिए मिले। यह भजन-समारोह, ऐसा विश्वास किया जाता है, कि पहले राजगृह में हुआ था और इसको प्रथम सम्मेलन या पहली संगिति या प्रथम प्रार्थना-परिषद कहते हैं। बुद्ध के सब उपदेश इस प्रकार विभिन्न शिष्यों से एकत्रित किये जाकर तीन भागों में विभाजित किए गए, जिन्हें त्रिपिटक कहते हैं, या जो तीन विभिन्न सुत्त विनय और अभिधम्म पुस्तकात्रय के रूप में तीन पिटकों में अवस्थित हैं। इस बात का पूरा प्रमाण है कि पिटक लिखे नहीं गये थे। क्योंकि संभव है कि बौद्ध साधुओं ने बुद्ध के उपदेशों को लिखित बना देने में बुद्ध की पावन भूत वाणी को दूषित होना सोच लिया था। महावग्ग से हमको पता चलता है कि, एक भिक्षु आज्ञा-पत्र के साथ अपने पड़ोसी-बन्धु-राष्ट्र के यहाँ पूर्ण या खण्ड रूप में पति-मोक्ख सीखने के लिए भेजा गया था। पुनः महावग्ग में हम सुनते हैं कि एक उपासक ने जो विशेष सुतन्तों को जानता था और इस भय से कि उसके जीवन की समाप्ति के साथ उसकी कला भी लुप्त हो जायगी, संघ को अपने पास सुतन्तों को जबानी सीखने के लिए निमंत्रित किया।

इस प्रकार बौद्धों का धार्मिक-साहित्य भी स्मृति-पुस्तकालय के रूप में हस्तान्तरित किया गया था। पिटकों में संघों का और शिष्य-गृहों का स्पष्ट वर्णन है पर उसमें कहीं पर किसी भी तरह की लेखन-सामग्री लेखनी, मसी और किसी भी वस्तु का जो लेखन कार्य में सहायक हो सके संकेत नहीं मिलता है। लंका की गाथाएँ उपरोक्त बात का प्रतिपादन करती हैं और जहाँ कि वे वत्तगमनि के शासन काल का निर्देष करती हैं, जो ईसा के ८८ वर्ष पूर्व था।

"पूर्व काल के बुद्धिमान भिक्षुओं ने तीनों पिटक और उनकी टीकाएँ (आलोचनाएँ) मौखिक एक दूसरे को दी थीं। तत्कालीन भिक्षुओं ने यह जान कर कि किस प्रकार समस्त प्राणी नाश होने को हैं, एक स्थान पर मिलकर उनको पुस्तकाकार रूप प्रदान किया जिससे धम्म (धर्म) अमर रह सके।"

इसी प्रकार जैन मत में भी हमें पता चलता है कि जैन-धार्मिक साहित्य भी मौखिक गुरु से शिष्य को प्रदान किया जाता था और उसे लिखित रूप में नहीं बनाया गया। प्रारम्भ में इसके बहुत अधिक संख्या में विद्वान थे, जो उनके पवित्र और पावन साहित्य को स्मृति में रखते थे। किन्तु पीछे से एक व्यक्ति को छोड़कर किसी को भी समस्त साहित्य ज्ञात नहीं रहा। इस पर जैन धार्मिक परिषद् को ज्ञात हुआ और उसने देवर्द्धिगणी, एकमात्र जिसको वे पवित्र पुस्तकें कण्ठस्थ थीं, के पास जाकर उनकी प्रतिलिपि लेली। तदनन्तर महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् सब

बातें लेख बद्ध कर ली गई। अतः यह कहा जा सकता है कि जैन धार्मिक साहित्य भी लिखित नहीं था बल्कि उसका आदान-प्रदान मौखिक स्मृति-पुस्तकालयों के रूप में होता था।

यह नहीं कहा जा सकता है कि जब महावीर और बुद्ध ने धर्म-प्रचार किया था, लेखन कला अज्ञात थी, क्योंकि उस समय से पूर्व के लेख खोज में मिले हैं। तब यह अनुमान लगाना उचित है कि साधारणतया हिन्दुओं ने अपने धार्मिक साहित्य को लिखित रूप देने की स्वीकृति नहीं दी और इसी अभ्यास को जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों ने भी अपनाया, जब कि इसके साथ-साथ लिखित साहित्य अधिक मात्रा में विद्यमान है।

लौकिक दृष्टि से व्यक्तिगत पुस्तकालय विशेष रूप से अवश्यमेव विद्यमान रहे होंगे। उदाहरण के लिए कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में बहुत ही संख्या में अपने पूर्ववर्ती लेखकों का निर्देश किया है और साथ ही उसमें द्रोणाचार्य का भी उल्लेख है, जिन्होंने १५०० वर्ष ई० पूर्व महाभारत के युद्ध में महत्वपूर्ण भाग लिया था और उक्त युद्ध कौटिल्य के समय से ११०० वर्ष पूर्व हुआ था। कौटिल्य के लिये उनके विचारों का उल्लेख करना संभव नहीं था, जब तक कि उसके पास हिन्दू राजनीति और अर्थशास्त्र विषयक समस्त उपलब्ध सामग्री न हो। उस (कौटिल्य) ने अपने से पहले के कई विचार सम्प्रदायों का जिसमें मनु और बृहस्पति के विचार सम्प्रदाय भी हैं, वर्णन किया है। इस पिछले (बृहस्पत्य) सम्प्रदाय का अर्थ-शास्त्र भी खोज में मिल गया है, जो प्रकाशित हो गया है। इसी प्रकार काम शास्त्र और नाट्य-शास्त्र के आचार्यों के पास वे सब पूर्व की उस विषय की रचनाएं होंगी, जिनका उल्लेख उनकी रचनाओं में मिलता है। एवं अपने पूर्व के प्रमुख आचार्यों और उनके विचारों को वात्सायन ने 'काम शास्त्र' और भरत ने 'नाट्य शास्त्र' में प्रस्तुत किये हैं।

शिशुनागवंशी राजा उदय के पाटलीपुत्र को राजधानी रूप में शिलान्यास के पश्चात् यह एक विद्या का केन्द्र बन गया। यहां साहित्यिक परीक्षाएं ली जाती थीं, एवं यहीं से वर्ष, उपवर्ष, पाणिनी, पिंगल, व्यादि वररुचि, पातञ्जलि जैसे महान् विद्वानों ने परीक्षोत्तीर्ण होकर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। यह तो पूर्व धारणा है कि पाटलीपुत्र एक उच्च श्रेणी का साहित्यिक केन्द्र था और वहां साहित्य की समस्त शाखाओं के विशेषज्ञों का निवास होकर उनके पास बृहत पुस्तकालय रहे होंगे।

पाटलीपुत्र के ज्ञान-केन्द्र के बदलने के पूर्व तक्षशिला एक विश्वविद्यालय था, जिसमें हिन्दुओं की चौदह विद्याओं (ज्ञान विज्ञान) का शिक्षण होता था और जैसा कि हमें जातक तथा बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है तत्कालीन विद्यार्थियों को उच्च श्रेणी की शिक्षा दी जाती थी। उस समय के भौतिक और आध्यात्मिक शास्त्रों के श्रेष्ठ विद्वान् तक्षशिला को घेरे रहते थे जहाँ महाभारत का सबसे पहला पाठ हुआ था। तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय से यह तात्पर्य है कि वहाँ चौदह विद्याओं के विशेषज्ञ प्रत्येक विषय के विशद् साहित्य के साथ हों। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ विश्वविद्यालय का एक बृहत् पुस्तकालय। ई० स० ८०० वर्ष पूर्व तक तक्षशिला विश्वविद्यालय का उदयकाल माना जा सकता है।

शुंगवंश के राजा विद्या और ज्ञान के संरक्षक थे। ऐसा कहा जाता है कि इन राजाओं ने कई पण्डितों की नियुक्ति कर संस्कृत भाषा में कितने ही ग्रन्थों का पुनरावलोकन और पुनर्निर्माण करवाया था जैसे महाभारत, रामायण, मनुस्मृति तथा पुराणादि। अनुमान होता है कि ब्राह्मणों के बहुमूल्य कागज-पत्रों और साम्प्रदायिक साहित्य का उनके पास अच्छा संग्रह था। व्याकरणाचार्य पातञ्जलि ने पुष्यमित्र के समय में ही प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इसने अपने महाभाष्य में परम्परागत प्राप्त सब व्याकरण संबंधी विचारों और दृष्टिकोणों का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार का संस्कृत-व्याकरण जैसा निश्चित विज्ञान इस रीति से बिना इस विषय के समुचित ग्रन्थों की सहायता के प्रतिपादित नहीं किया जा सकता।

इस काल के पश्चात भारतीय बौद्ध-चीनियों के सम्पर्क में आये। चीन के राजाओं ने मूल ग्रन्थ तथा अन्य साहित्य एकत्रित करने और उन्हें चीनी भाषा में अनुवादित करने के लिये भारत में दूत भेजना आरम्भ किया। इस संग्रह और अनुवाद का कार्य एक सहस्र वर्ष तक चलता रहा एवं इसके फलस्वरूप हम आज बहुत बड़ा चीनी त्रिपिटक का पुस्तकालय विद्यमान पाते हैं।

ई० स० की प्रथम शताब्दी में राजा कनिष्क के समय में बौद्ध-परिषद् आयोजित की गई थी और बौद्ध भिक्षुओं को उन नये विचारों और विश्वासों को जो बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उत्पन्न हुए थे लेते हुए त्रिपिटकों पर विशद् व्याख्या करने को कहा गया और यह कार्य बहु संख्यक ताम्र पत्रों पर खुदवाया जाकर अशोक के स्तूपों के नीचे गाड़ने की आज्ञा दी गई थी। यह व्याख्या विभाषा के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें बौद्धों का प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय विभाषिक का नामकरण हुआ।

कनिष्क के समय के पश्चात् निर्मित पंचरात्र ग्रन्थ में, जिसको पुष्कर-संहिता कहते हैं, में एक विषद् पुस्तकालय का वर्णन मिलता है। यहां उस काल में रखे जाते, मूल ग्रन्थ को कपड़े में रस्सी से बांधने तथा उनको लोहे की अलमारी एवं सुदृढ़ ग्रह में एक पुस्तकालयाध्यक्ष के निरीक्षण में इस शर्त पर कि वह विविध ज्ञान और विज्ञान के साहित्य को उच्च जीवन व्यतीत करने वाले विद्यार्थियों को देता रहेगा—रखने का उल्लेख है।

इसके पीछे हमको दक्षिण में श्रीशैल में कतिपय विश्व विद्यालय होने का पता चलता है, जहाँ पर हिन्दू विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। इन विद्यालयों की आर्थिक सहायता राजाओं द्वारा होती रहती थी। इस विश्व विद्यालय के पास अवश्य ही पुस्तकालय रहा होगा।

चौथी और पांचवीं ईस्वी शताब्दी में अवस्थित नालन्दा के विश्व विद्यालय में भी अवश्य एक वृहद् पुस्तकालय रहा होगा। एवं इसी प्रकार बिहार के दूसरे मठों में और ओदन्तपुरी तथा विक्रमशिला में भी महान् बड़े विश्व विद्यालय रहे होंगे, उस समय तक कि जब ओदन्तपुरी में बख्तियार खिलजी का तूफानी आक्रमण हुआ था और आक्रांता ने वहां के बहुत से भिक्षुओं को मरवा डाला था। इस समय आक्रमणकारी सैनिकों को एक वृहत् पुस्तकालय मिला था तदनन्तर पुस्तकालय की सूची का स्पष्टीकरण करने के लिए बख्तियार के सामने कुछ ग्रामीणों को बुलाया गया और सूचियों का परिचय देने के लिए कहा गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि इनको जानने वाले सब मारे गये हैं। इस पर अभिमानी विजेता ने क्रोधित होकर आज्ञा दी कि यह सब पुस्तकें काफिरों की हैं अतः इनको जला कर नष्ट कर दिया जाय।

बौद्धों के दूसरे विश्व-विद्यालयों को भी इसी अवस्था में गुजरना पड़ा। फलस्वरूप सारनाथ और नालन्दा की खुदाई में प्राप्त जले हुए पुस्तकों के ढेर मिलते हैं।

नालन्दा विश्व विद्यालय के उत्कर्ष-काल में भारत तथा तिब्बत के बीच गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया था और तिब्बत के निवासियों ने बड़े उत्साह से बौद्धों के मूल ग्रन्थों को एकत्रित किया एवं उनका तिब्बत की भाषा में अनुवाद करवाया और जिसके लिए उन्होंने उक्त हिम प्रदेश में भारतीय विद्वानों को मूल ग्रन्थों के भाष्य और संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद करने के हेतु निमंत्रित किया। बौद्ध ग्रन्थों के यह अनुवाद 'कैंग्यूर' और 'टैंग्यूर' संग्रह नाम से प्रसिद्ध हुए। कितनी ही संस्कृत की मूल पुस्तकें भारत से लुप्त हो गई हैं, वे आज भी इस प्रयोग से तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित हैं।

भारत के प्राचीन पुस्तकालयों का विवरण पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक कि ई॰ सन् की ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में गुजरात के विभिन्न भागों में फैले हुए विशद् जैन पुस्तकालयों का संक्षिप्त विवरण उपलब्ध न हो। ये शताब्दियां गुजरात में ज्ञान विज्ञान के विकास बौद्धिक उत्थान और क्रियाओं का स्वर्ण-युग थीं। पाटन साहित्यिक प्रवृत्तियों का सबसे बड़ा केन्द्र था, जब कि कुमारपाल प्रभृति जैन राजाओं और उनके योग्य मन्त्रियों के संरक्षण में जैन धर्म उन्नति की सीढ़ी पर चढ़ गया था। जैन विद्वान् और जैन यति पाटन में एकत्रित होकर ऐतिहासिक, धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक साहित्यिक वैज्ञानिक और शास्त्रीय ग्रन्थ लिखने में व्यस्त रहते थे। इन लम्बी शताब्दियों की बौद्धिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप बहुत बड़े पुस्तकालय मिलते थे जिनमें प्राचीन साहित्य एकत्रित रूप से संग्रहित एवं उनमें सम सामयिक और नई कृतियां मिल जाती थीं।

ऐसा कहा जाता है कि कुमारपाल ने २१ बड़े पुस्तक भण्डार स्थापित किये थे और उसी समय वीरधवल के मन्त्री वस्तुपाल ने अट्ठारह करोड़ के मूल्य के तीन ग्रन्थागार बनवाये थे। धनी और धार्मिक जैन गृहपति, ग्रन्थों के लेखन, संग्रह और प्रतिलिपि कराने एवं पुस्तकालयों की व्यवस्था कराने और अपने तात तथा कुटुम्बियों के नाम को चिरस्थायी रखने के लिए पर्याप्त धन देते थे।

विद्या की भारतीय अधिष्ठात्री देवी माँ सरस्वती को उस समय एक कठोर आघात लगा, जब कि मुसलमान आक्रमणकारियों ने देश को विजय किया और काफिर (हिन्दू) सभ्यता को भारत से पूर्णतया निकाल बाहर करने की अभिलाषा से अपने धर्म-उत्साह के वशीभूत हो उन्होंने समस्त हिन्दू स्मारकों, पुस्तकों, पुस्तकालयों और साहित्य को नष्ट कर डाला। भगवती वीणा पाणि ने अश्रु-पूरित नेत्रों से अपनी पवित्र विद्या एवम् वीणा को जिससे इस सुरम्य धरा के कवियों की आह्लादकारी और ईश्वरीय संगीत लहरी प्रस्फुटित होती थी, नष्टप्राय होता देख कर, हिमालय की दुर्जेय पर्वत-शृंखलाओं और राजस्थान के मरुस्थलों में अपने लिए एकान्त निवास की खोज करने के हेतु नगरों, कस्बों तथा गावों का परित्याग किया।

॥ ॐ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

[१८] नवम्बर २६, १७२८ ई० वाले अमझरा के युद्ध पर नवीन प्रकाश

[श्रीयुत महाराज कुमार डॉ. रघुवीरसिंह एम. ए., डी. लिट, एल. एल. बी.]

पेशवा दफ्तर में प्राप्य मराठी कागज-पत्रों के प्रकाशित हो जाने से यह सम्भव हो गया था कि सन् १७२८–३० के उपद्रव तथा अशान्तिपूर्ण वर्षों में मालवा के इतिहास की घटनावली का ठीक ठीक क्रम निश्चित किया जा सके। उक्त कागज-पत्रों की पूरी २ जाँच पड़ताल के बाद मैं इसी परिणाम पर पहुँचा था कि जिस भाग्य-निर्णायक युद्ध में मालवा का तत्कालीन सूबेदार गिरधर बहादुर मारा गया था, वह युद्ध नवम्बर २६, १७२८ ई० के दिन अमझरा और तिरला के बीच में हुआ था, गिरधर बहादुर का चचेरा भाई दया बहादुर तब मालवा में रहने वाली शाही सेना का सेनापति था तथा वह भी इसी युद्ध में खेत रहा था।

मेरे इतिहास-ग्रन्थ "मालवा में युगान्तर" के सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हो जाने के बाद सर यदुनाथ सरकार ने जयपुर राज्य के मुहाफिजखाने में पुनः जाँच-पड़ताल कर वहाँ से मुगल साम्राज्य के इन पिछले बादशाहों के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कागज-पत्र ढूंढ निकाले। इन कागज-पत्रों में से, फारसी भाषा में लिखे हुए छः पत्र ऐसे भी निकले, जिनमें अमझरा के इस महत्वपूर्ण युद्ध का समकालीन विवरण लिखा हुआ था। पेशवा दफ्तर के मराठी कागज-पत्रों के आधार पर इस युद्ध सम्बन्धी जिन जिन भी निर्णयों पर मैं अब तक पहुँचा था, इन पत्रों में वर्णित विवरण से उन सारे निर्णयों का पूर्ण समर्थन ही नहीं हुआ, किन्तु साथ ही उस सम्बन्धी कई एक अज्ञात नई बातें भी मालूम हुईं जिससे अब इस युद्ध का पूरा पूरा सम्बद्ध विवरण लिखना कठिन नहीं होगा।

इन पत्रों से हमें यह ज्ञात होता है कि सन् १७२८ ई० की बरसात के दिनों में राजा गिरधर बहादुर मन्दसौर में ठहरा हुआ था और मालवा की दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर कण्ठाजी कदम के आक्रमण की सूचना पाकर वह मन्दसौर से ही सीधा अमझरा गया और अमझरा में डेरा डाल

कर कण्ठाजी के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा। कण्ठाजी इस समय बाँसवाड़े के आसपास चक्कर काट रहा था। इसी समय चिमाजी बल्लाल और उदाजी पवार के सेनापतित्व में दक्षिण से आक्रमण करनेवाली मरहठा सेना के साथ अमझरा के पास ही एकाएक गिरधर बहादुर की मुठभेड़ हो गई और उसी युद्ध में गिरधर बहादुर मारा गया तथा उसकी सेना का पूर्ण संहार हुआ। माण्डू का फौजदार मुहम्मद उमर इस समय धार में पड़ाव डाले हुआ था। गिरधर बहादुर की सहायतार्थ कहीं वह अमझरा नहीं पहुँच जावे, इसी आशंका के कारण उमर मुहम्मद को रोकने के हेतु मरहठों की सेना का एक दल धार के पास ही छोड़ दिया गया था।

इन पत्रों मे युद्ध के विवरण सम्बन्धी भी कई एक महत्वपूर्ण बातें ज्ञात हुई हैं। मरहठों का सामना करते समय शाही सेना के हरोल का नेतृत्व राव गुनावराम और जमादार सलाबत खाँ ने किया था। शाही सेना के प्रधान दल का नेतृत्व प्रान्तीय शाही सेना नायक दया बहादुर और उसका छोटा भाई शम्भूराम कर रहे थे। इन तत्कालीन पत्रों में दया बहादुर का उल्लेख करते समय उसके शाही नाम करण राजा आनन्दराम का ही प्रयोग किया है, किन्तु मरहठों एवं इतिहासकारों में उसका असल नाम दया बहादुर ही अधिक ज्ञात तथा प्रसिद्ध है। जब राजा गिरधर बहादुर ने देखा कि मरहठों ने शाही सेना को घेर कर उसे दबा लिया है तब तो वह स्वयं भी शत्रु सेना पर टूट पड़ा। हाथी पर सवार गिरधर बहादुर शत्रु सेना के साथ युद्ध करते हुए अपनी शाही सेना को भी उत्साहित कर रहा था, अन्त में एक गोली लगने से उसकी मृत्यु हुई। मरहठों की पूर्ण विजय हुई। राव गुनावराम और जमादार सलावत खाँ वहीं युद्ध क्षेत्र में ही खेत रहें। राजा दया बहादुर उर्फ राजा आनन्दराम बुरी तरह घायल हुआ और अन्तमें अपने भाई शम्भूराम के साथ ही उसे भी मरहठों ने पकड़ लिया, किन्तु सौभाग्यवश कैद होने के बाद दया बहादुर बहुत दिन तक जीवित नहीं रहा और युद्ध में प्राप्त घावों के फलस्वरूप कुछ ही दिनों में (नवम्बर २९ से दिसम्बर २, १७२८ ई० तक) वहीं अमझरा के युद्धक्षेत्र पर ही दया बहादुर की मृत्यु हो गई। शम्भूराम एवं अन्य प्रधान शाही सेना नायकों को जिनमें दोलभजी तथा चौबे कवीन्द्र विशेष उल्लेखनीय थे, मरहठों ने कैद कर लिया और बहुतसा द्रव्य लेने के बाद ही उन्हें छोड़ा।

राजा छबीलेराम के दूसरे लड़के और राजा आनन्दराम के छोटे भाई भवानीराम ने जो पत्र दिल्ली लिखे थे उनसे इस भयंकर हार का पूरा पूरा विवरण शीघ्र ही दिल्ली के शाही दरबार में ज्ञात हो गया। इस घराने के बाकी बचे हुए व्यक्तियों में राजा छबीले राम का दूसरा लड़का भवानीराम ही अब सबसे अधिक वयस्क तथा अनुभवी था, एवं आपत्ति की इस घड़ी में उसीने प्रान्त के शासन को अपने हाथों में ले लिया। राजा गिरधर बहादुर की सेना के बाकी बचे हुए सारे सैनिकों को उसने अपनी सेना में रख लिया तथा साथ ही उसने कई नये सैनिक भी भर्ती किये और उसने उज्जैन के बचाव का पूरा पूरा प्रबन्ध किया। आगे चलकर उसका यह विश्वास ठीक ही निकला कि मरहठे आक्रमणकारी अमझरा से सीधे उज्जैन की ओर ही बढ़ेंगे। अधिकाधिक शाही सेना तथा अन्य आर्थिक सहायता भिजवाने के लिये भवानीराम ने अनेकानेक पत्र शाही दरबार में दिल्ली भेजे। सहायतार्थ इसी आशय के कुछ पत्र उसने जयपुर के राजा सवाई जयसिंह के पास भी भेजे, क्योंकि आस पास के राजाओं तथा शक्तिशाली शासकों

नायकों में वही एक ऐसा था जो किसी भी प्रकार भवानीराम की सहायता कर सकने में समर्थ था। इन पत्रों के उत्तर में भवानीराम के पास दिल्ली और जयपुर से गिरधर बहादुर और दया बहादुर की मृत्यु पर शोक सूचक पत्र उसके पास पहुँचे। परन्तु सिर्फ ऐसे सहानुभूति पूर्ण पत्रों से ही तो भवानीराम का काम चलने वाला नहीं था। मुगल सम्राट मुहम्मद शाह ने भवानीराम को राजा चिमना बहादुर का खिताब देकर उसे मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। इसी की सूचना का फ़रमान भवानीराम के पास भेजा गया, जो दिसम्बर २१, १७२८ ई० को उज्जैन पहुँचा। किन्तु भवानीराम ऐसे कोरे फरमानों का इच्छुक न था। वह तो आर्थिक और सैनिक सहायता चाहता था और ये उसे प्राप्त नहीं हो रही थीं। भवानीराम को सूचना दी गई कि सैयद नजमुद्दीन अलीखाँ और अन्य शाही सेना नायकों को जो उस समय सिरौंज में पड़ाव डाले हुए थे, आदेश दिया गया था कि वे भवानीराम की सहायतार्थ उज्जैन जावें, किन्तु नजमुद्दीनअली आदि सेना नायकों ने इस शाही हुक्म की कुछ भी परवाह नहीं की और वे सिरौंज में ही टिके रहे। विवश होकर भवानीराम को निरन्तर नये नये सैनिक भर्ती करना पड़े परन्तु उसके पास आवश्यक द्रव्य नहीं था कि वह इन सैनिकों की तनख्वाह समय पर चुका सकता एवं ये सैनिक अपनी तनख्वाह के लिये समय समय पर उपद्रव करते रहे और भवानीराम ऐसे उपद्रवों की सूचना शाही दरबार में दिल्ली लिख भेजता था। मरहठों ने उज्जैन को कब और कैसे घेरा आदि बातों का विवरण सुज्ञात है, एवं उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अमझरा के युद्ध में कैद किये गये शम्भूराम तथा अन्य शाही सेना नायकों को छुड़वाने के लिये आवश्यक द्रव्य भिजवाने के लिये मरहठों ने उज्जैन के इस घेरे के अन्तिम सप्ताहों में भवानीराम को लिख भेजा। राजा आनन्दराम पहले ही मर चुका था, एवं अन्य सेना नायकों को छुड़वाने की ऐसी कोई खास जल्दी न थी, अतएव जब उज्जैन का घेरा लगा हुआ था तथा प्रतिदिन दोनों दलों में निरन्तर युद्ध हो रहे थे तब साथ ही इन शाही सेना नायकों को छुड़वाने की भी बात चीत चलती जा रही थी।

इस वीर योद्धा नागर के घराने के विभिन्न व्यक्तियों के कौटुम्बिक सम्बन्ध के विषय की कई एक प्रचलित धारणाओं की भूलों तथा उसी सम्बन्धी अनेक अज्ञात बातों का इन पत्रों से पता चलता है। इन पत्रों से प्राप्त इस नई जानकारी के प्रकाश में "अजायब-उल्-आफ़ाक" की पुनः जांच की गई, तथा अब इस घराने के वंश-वृक्ष में कई सुधार करना आवश्यक जान पड़े। ऐसा ठीक किया हुआ वंश-वृक्ष इस लेख के अन्त में दिया गया है। इस घराने के विभिन्न व्यक्तियों के बारे में जो जो नई बातें इन पत्रों से ज्ञात हुई हैं उनका यहां संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

राजा आनन्दराम उर्फ़ राजा दयाबहादुर—यह निश्चित करना कि मालवा में रहने वाली शाही सेना का तत्कालीन सेना-नायक राजा आनन्दराम और मरहठों तथा इतिहासकारों को सुज्ञात राजा दयाबहादुर एक ही व्यक्ति था, बहुत आसान बात नहीं थी। एक के अतिरिक्त बाकी सारे इतिहासकार राजा छबीलेराम के लड़के राजा दयाबहादुर का ही उल्लेख करते हैं; उन्होंने कहीं भी राजा आनन्दराम की चर्चा नहीं की है। फ़ारसी भाषा में लिखने वाले इतिहासकारों में केवल मिर्ज़ा मुहम्मद ने ही राजा गिरधर बहादुर के साथ ही युद्ध में राजा

आनन्दराम के भी मारे जाने का उल्लेख किया है। उसने राजा आनन्दराम को राजा गिरधर बहादुर का सम्बन्धी ही लिखा है, इन दोनों के बीच यह कौटुम्बिक नाता क्या था, इसका उसने कहीं भी खुलासा नहीं किया है। (देखो मिर्ज़ा मुहम्मद कृत तारीख़-इ-मुहम्मदी, ब्रिटिश म्युज़ियम मेनुस्क्रिप्ट्स न ओरियंटल १८२४, इर्विन, २, पृ २४१)। गिरधर बहादुर के साथ मारे जाने वाले महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की सूची में मिर्ज़ा मुहम्मद ने केवल राजा आनन्दराम, राय गुलाबराम और सनावतख़ाँ का उल्लेख किया है, वहाँ कहीं भी उसने दयाबहादुर का नाम नहीं दिया है। राजनैतिक तथा सैनिक दृष्टि से राजा आनन्दराम बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था, एवं यद्यपि वह युद्ध में बहुत ही बुरी तरह घायल हो गया था, उसे कैद कर अपने अधिकार में लेने को मरहठे बहुत ही उत्सुक हो उठे। मराठी कागज पत्रों से यह स्पष्ट है कि शाही सेना के साथ राजा दयाबहादुर भी था, और वह वीरतापूर्वक लड़ा ही नहीं परन्तु युद्ध में मारा भी गया। इस नागर घराने के प्रमुख व्यक्तियों का पत्र-व्यवहार "अजायब-उल आफ़ाक़" में संग्रहीत है। दयाबहादुर के इस शाही नामकरण आनन्दराम का उल्लेख इस पत्र संग्रह में कई एक स्थानों में मिलता है। एक स्थान में इस नाम के साथ उसका ख़िताब "राय" दिया है, बाद में दूसरे स्थान पर उसको "राजा" लिखा है, जिसमें यह स्पष्ट है कि उसे क्रमशः अधिक उच्च शाही ख़िताब मिलते गये। (देखो अजायब०, प० ३० अ, ४७ ब)।

भवानीराम उर्फ राजा चिमना—अब तक प्रायः यही माना जाता था कि भवानीराम राजा गिरधर बहादुर का ज्येष्ठ पुत्र था। इन पत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त विश्वास भ्रमपूर्ण था। असल में भवानीराम राजा दयालेराम का दूसरा लड़का था। अजायब से भी इस संशोधन का समर्थन होता है। (देखो प० ४ ब)।

राजा आनन्दराम का भाई शम्भूराम—इन पत्रों से यह बात ज्ञात पड़ती है कि अमझरा के युद्ध के समय इस नागर घराने के दो व्यक्तियों का एक ही नाम, शम्भूराम, था। एक पत्र में राजा आनन्दराम के छोटे भाई शम्भूराम के अमझरा के युद्ध क्षेत्र में होने का स्पष्ट उल्लेख है। शम्भूराम इस युद्ध में लड़ा एवं बाद में उसे मरहठों ने कैद कर लिया था। इसी नाम का दूसरा व्यक्ति राजा गिरधर बहादुर का छोटा लड़का था, जो इस युद्ध के समय उज्जैन में था। इस युद्ध में शाही सेना की हार तथा राजा गिरधर बहादुर के मारे जाने के समाचार जब उज्जैन पहुँचे थे, तब वहाँ इसी शम्भूराम ने उज्जैन में स्थित शाही सैनिकों को आश्वासन देकर धैर्य बंधाया था एवं आगे बढ़ते हुए मरहठों का सामना करने के लिए उन्हें उत्साहित किया था।

राव गुलाबराम—अजायब० में इस व्यक्ति का उल्लेख अनेकों स्थानों में मिलता है। प्रारम्भ में इलाहाबाद में स्थित शाही सेना में इसकी नियुक्ति की गई थी (प० १२ ब०)। उसने विद्रोहियों को हराकर शाहजादपुर ज़िले को इस्तमरार किया था (प० १२ ब)। तदनन्तर वह इलाहाबाद के ज़िले का ज़िलेदार नियुक्त किया गया (प० १६ अ), और कुछ समय बाद उसे स्वामेश और कुरा का फ़ौजदार बनाया (प० ४२ ब)। जब गिरधर बहादुर मालवा को

सूबेदारी पर नियुक्त किया गया, तब राव गुलाबराम ने बधाई का एक पत्र गिरधर बहादुर को लिखा था; यह पत्र भी अजायब० में संग्रहीत है (पत्र सं० १८१, प० ६८ अ) परन्तु इस पत्र-संग्रह में कहीं भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे यह स्पष्ट हो जावे कि राव गुलाबराम का इस नागर घराने के साथ कौनसा कौटुम्बिक सम्बन्ध था। राजा छबीलेराम नागर और उसके अन्य कुटुम्बियों की जीवनियाँ गुजराती भाषा में लिखते समय मानशंकर पीताम्बरदास मेहता ने विभिन्न आधार ग्रन्थों में दिये गये विवरणों तथा पुरानी पोथियों के आधार पर राजा छबीलेराम के घराने के कई वंश-वृक्षों की विवेचना की और अन्त में वह इसी निश्चय पर पहुँचा कि राजा छबीलेराम की एक पुत्री का विवाह राव गुलाबराम के साथ हुआ था। अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक हिन्दी काव्य "जंग नामा" में उसके रचयिता कवि श्रीधर ने लिखा है कि आगरा के युद्ध (दिसम्बर ३१, १७१२) में गुलाबराम ने महत्वपूर्ण भाग लिया था। मिर्जा मुहम्मद ने भी गुलाबराम को गिरधर बहादुर का सम्बन्धी लिखा है। (तारीख-ई-मुहम्मदी, इर्विन, २. पृ० २४३)।

दौलभजी—किसी भी फ़ारसी इतिहास ग्रन्थ या मराठी कागज-पत्रों में इस नाम के व्यक्ति का अन्य कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। मानशंकर पीताम्बरदास मेहता ने राजा छबीले-राम बहादुर की गुजराती जीवनी में जो वंश-वृक्ष प्रकाशित किये हैं, उनमें पृ० ३३–३४ पर दुर्लभजी नाम के एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है। तदनुसार इस दुर्लभजी के पिता का नाम कुँवरजी था, और इन कुँवरजी का विवाह दयाराम नागर की पुत्री बेनी कुँवर से हुआ था, जो इस दुर्लभजी की माता थी। नामों के इस साम्य से भी यह अनुमान लगाने में कठिनाई नहीं होती है कि इन फारसी पत्रों का दौलभजी और उक्त वंश-वृक्ष का दुर्लभजी एक ही व्यक्ति है। गिरधर बहादुर का पिता, दयाराम नागर ही दुर्लभजी का नाना था।

गिरधर बहादुर के पुत्र—विभिन्न आधार-ग्रन्थों तथा कागज-पत्रों के उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि गिरधर बहादुर के बाद कम से कम उसके तीन पुत्र विद्यमान थे, जिनके नाम थे—विनयराम, विजयराम और शम्भूराम। पत्र सं० २ और ३ में विजयराम का नाम नहीं दिया है, उसके स्थान मोहनराम मिलता है, परन्तु मोहनराम नाम का उल्लेख अन्य कहीं भी नहीं पाया जाता है। गिरधर बहादुर की मृत्यु के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र, विनयराम को राजा का खिताब दिया गया होगा, ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि अजायब० में एक स्थान (प० ४ ब) पर उसको राजा विनयराम लिखा है। विनयराम को मुगल-सम्राट की ओर से खिलअत, एक सरपेच और पदक भी मिला था (अजायब०, प० ७१ ब, ७२ ब)। उसके छोटे भाई विजयराम और शम्भूराम को भी खिलअत और इसी प्रकार के अन्य पुरस्कार मिले थे (प० ७० ब)। अजायब प० ६१ पर शम्भूराम को भी "राजा शम्भूराम" लिखा है।

पत्र सं० १

मालवा के दीवान मुहम्मद सैद खाँ का जयपुर के सवाई जयसिंह के नाम पत्र।
[लगभग दिसम्बर ३, १७२८][1]

मारडू के फौजदार, मुहम्मद उमरखाँ ने ता० ७ जमादि-उल्-अव्वल, सन् १०[2] [नवम्बर २८, १७२८ ई०] के दिन लिखा कि बाजीराव का भाई चिमणाजी पण्डित, उदाजी पवार, आदि एक बड़ी सेना के साथ धार से कोई ७ कोस की दूरी पर नौपुरा[3] में आ पहुँचे हैं।

इसी माह की ता० ८ [नवम्बर २९, १७२८ ई०] को वे बड़ी तेजी के साथ राजा गिरधर बहादुर के लश्कर की ओर बढ़े। इस समय वह (गिरधर बहादुर) धार शहर से कोई पाँच कोस की दूरी पर, मारडू सरकार में ही स्थित अमझरा शहर के पास पड़ाव डाले हुए था। मरहठों ने शाही सेना को गारत कर दिया। तब से लगातार समाचार आ रहे हैं कि राजा आनन्दराम,[4] सलाबत खाँ, आदि के साथ राजा बहादुर[5] भी युद्ध में काम आया।

ये दुष्ट [मरहठे] उज्जैन पर दाँत लगाये बैठे हैं। ये सारे समाचार सम्राट के पास पहुँचे

---

१ ऐसा जान पड़ता है कि अमझरा के युद्ध के परिणाम की पहली सूचना उज्जैन में मिलते ही यह पत्र लिखा गया था। सीधी राह अमझरा से उज्जैन कोई ६४ मील की दूरी पर है।

२ यहाँ सन् ११ होना चाहिए। मुहम्मद शाह का जलूमी सन् ६ रबी-उस्-सानी से बदलता था। सन् ११, नवम्बर १, १७२८ ई० से प्रारम्भ हो गया था।

३ नक्शे में धार से इतनी दूरी पर इसी नाम का या इससे मिलते-जुलते नाम का कोई गाँव नहीं मिलता है। नालछा भी धार से दक्षिण-पूर्व दक्षिण दिशा में कोई १४ मील की दूरी पर है। ता ६ जमादि उल्-अव्वल [नवम्बर २७, १७२८ ई०] के दिन चिमणाजी तथा मरहठों की सेना का प्रधान पड़ाव नालछा में ही था और सम्भवत दो दिन नालछा में ही ठहर कर वहाँ से ही वे सीधे अमझरा की ओर बढ़े थे।

धारसे ५ मील दक्षिण-पूर्व-दक्षिण दिशामें नौपुरा नाम का एक गाँव नकशेमें बताया है सम्भव है कि नवम्बर २८ को जब मरहठों की प्रधान सेना नालछा में ही ठहरी रही थी तब मरहठों की सेना के एक दल को आगे इसी नौपुरे भेज दिया होगा जिससे कि धार के किले की सेना को राजा गिरधर बहादुर की सेना के साथ जा मिलने का कोई भी अवसर नहीं मिले।

४ राजा छबीले रामके ज्येष्ठ पुत्र राजा दया बहादुर का ही शाही नाम जो शाही कागज पत्रों में लिखा जाता था।

५ राजा गिरधर बहादुर को ही प्रायः राजा बहादुर के नाम से पुकारते थे। देखो अजायब०, प० १ ब।

तथा वहाँ से मदद के लिए सेना भेजी जावे, तब तक तो यहाँ [मरहठों की] यह बाढ़ सब कुछ डुबो देगी। इसलिए मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि इस सूबे की रक्षा के लिए और विशेषतया उज्जैन शहर के बचाव के हेतु तत्काल ही आप कुछ न कुछ प्रबन्ध कर दें। या तो आप स्वयं ससैन्य मालवा चले आवें या सेना को ही भिजवा दें। समय बहुत ही कम है। जो कुछ भी मुझसे बन सकता है, मैं कर रहा हूँ और [अपना कर्त्तव्य पूरा करने में] अपनी जान तक न्योछावर कर देने को तैयार हूँ।

पत्र सं. २

सवाई जयसिंह के नाम केशोराम[1] की अर्जदाश्त

(लगभग दिसम्बर ५, १७२८)[2]

मालवा के सारे समाचार यहां निवेदन कर रहा हूँ, ये सब अब तक आपको ज्ञात हो ही चुके होंगे। सबसे पहिले १०,००० घुड़सवारों को लेकर कण्ठा (या कान्हा) मरहठे[3] ने मालवा में धूमधाम की और तब वह गुजरात की ओर चला गया। इस समय राजा गिरधर बहादुर का पड़ाव मन्दसौर में था। उसकी इस धूमधाम का हाल सुनकर राजा गिरधर बहादुर ने अपने कुटुम्ब, नौकरों तथा भारी २ असबाब को उज्जैन भेज दिया, और वह स्वयं राजा आनन्दराम, राव गुलाबराम[4] तथा अपनी सारी सेना को लेकर उस मरहठे को दण्ड देने के लिए आगे बढ़ा। तब तक वह दुष्ट मालवा छोड़कर गुजरात में चला गया था और बाँसवाड़े के नजदीक गुजरात सूबे की सीमा में ही ठहरा रहा।

---

१. जयपुर के सवाई जयसिंह का उज्जैन में नियुक्त प्रतिष्ठित वकील तथा विश्वसनीय खबर नवीस।

२. पहले पत्र के लिखे जाने के कुछ ही दिनों बाद यह पत्र लिखा गया होगा। तब तक अमझरा के युद्ध सम्बन्धी पूरी-पूरी बातें ज्ञात हो गई थीं। इस पत्र में मरहठों के उज्जैन की ओर बढ़ने का कहीं भी उल्लेख नहीं है। नवम्बर २६, १७२८ ई० को युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद अगले तीन दिन तक मरहठे अमझरा में ही डेरा डाले ठहरे रहे।

३. बहुत करके यह उल्लेख कण्ठाजी कदम बाँडे का ही है। मराठी भाषा के जो भी पुराने कागज-पत्र अब तक प्रकाशित हुए हैं, उनसे कण्ठाजी के अक्टूबर-नवम्बर, १७२८ ई० वाले इस आक्रमण पर कोई भी प्रकाश नहीं पड़ता है। पेशवा दफ्तर १३, पत्र सं० ११ में कण्ठाजी कदम के जिस आक्रमण का उल्लेख है, वह दूसरा ही था। यह संभव है कि ऊपर मालवा के जिस आक्रमण का उल्लेख है उसके लिए दक्षिण से रवाना होते समय पेशवा ने विशेष रूप से सितम्बर २४, १७२८ ई० के दिन कण्ठाजी को बुलाकर आदेश दिया था कि वह मल्हारराव होल्कर के साथ कोई झगड़ा मोल न ले ले। उस समय होल्कर सुल्तानपुर परगने के तलोद गांव में ठहरा हुआ था। पे० द०, २२, पत्र सं० २४।

४. दया बहादुर का बहनोई; राजा छबीलेराम नागर की पुत्री के साथ उसका विवाह हुआ था।

राजा बहादुर ने अब अमझरा के पास पड़ाव डाला। बाजीराव के भाई, चिमणा पंडित, उदाजी पवार, आदि ने २२,००० घुड़सवारों के साथ एकाएक नर्मदा को पार किया और तेजी के साथ वे तीन कोस आगे बढ़े। उस समय मुहम्मद उमर खाँ धार में था। कहीं वह धार के किले से निकल कर राजा बहादुर के साथ न आ मिले इसी सम्भावना को रोकने के लिए मरहठे सैनिकों के एक दल को उन्होंने धार के किले के पास छोड़ा और बाकी सब ने एकत्रित होकर ता ८ जमादि-उल्-अव्वल सन् ११ [नवम्बर २६, १७२८ ई०] के दिन (शाही) सेना को जा घेरा। प्रारम्भ में तो राव गुलालराम और सलाबत खाँ जमादार ने बहुत से मरहठों को मारा, परन्तु दुर्भाग्य का कोई इलाज नहीं हो सकता—वे दोनों युद्ध मे काम आये। राजा आनन्दराम के दो गोलियाँ लगी और उसके भाई, शम्भूराम[४] के साथ ही उसे भी गनीमों ने कैद कर लिया।

राजा बहादुर स्वयं अपने हाथों ही तीर चला रहे थे। अपने हाथी पर रक्खे हुए तीरों के चार भाथे उन्होंने खाली कर दिये। उसी समय एक गोली उनकी छाती में लगी, और यों मुगल साम्राज्य के हितार्थ उन्होंने अपनी जान न्योछावर कर दी। जिस दिन उन्होंने प्रथम बार शाही सेना के लिए कमर बाँधी थी, तब से आजतक अपना कर्तव्य बराबर निबाहते हुए उन्होंने ससम्मान अपना जीवन बिताया और आज उन्होंने यह गौरव पूर्ण मृत्यु पाई।

अब आप (सवाई जयसिंह) ही राजा बहादुर के स्थान पर हैं। आपको चाहिए कि राजा छबीलेराम के पुत्र कुंवर भवानीराम, राजाबहादुर के पुत्र विनयराम, मोहनराम और शम्भूराम तथा उनके अन्य कुटुम्बियों की पूरी २ देखभाल करें।

उस अवसर पर इन चारों कुंवरों ने अपने सारे सैनिकों को तसल्ली दी और उन्हें पूर्ववत अपने साथ नौकर रक्खा। साथ ही और भी नए सैनिकों को वे भर्ती करने लगे। उन्होंने चन्देरी के राजा दुर्जनसाल (बुन्देला) को ५०० घुड़सवार और एक हजार पैदल सैनिक दिए, तथा सूबे के दीवान सैद मुहम्मद को ३०० घुड़सवार और ५०० पैदल सैनिक दिए। उन्होंने इसी प्रकार अन्य नियुक्तियाँ भी कीं। अब (उज्जैन) शहर की सुरक्षा के लिए भी लोग नियुक्त किये जा रहे हैं।

---

४ राजा छबीले राम का तीसरा लड़का। राजा गिरधर बहादुर के एक पुत्र का भी यही नाम था। परन्तु तब वह उज्जैन में था।

पत्र सं० ३

सवाई जगसिंह के नाम केशोराम की अर्जदाश्त

[लगभग दिसम्बर १८, १७२८ ई०][1]

पिछले पत्र में यहाँ की सारी घटनाएँ निवेदन कर चुका हूँ और साथ ही यह भी स्पष्ट कर चुका हूँ कि उनके फलस्वरूप यहाँ कैसी चिन्ताजनक परिस्थिति उठ खड़ी हुई है। गनीमों के साथ शाही सेना का जो युद्ध हुआ उसमें राव गुलाबराम सजावलदार जमादार आदि के साथ ही राजा बहादुर भी युद्ध में काम आये। इन आक्रमणकारी गनीमों की संख्या चींटियों और टिड्डियों से भी कहीं अधिक थी। राजा आनन्दराम के दो गोलियाँ लगीं और उसके छोटे भाई शम्भूराम के साथ ही उसे भी गनीमों ने कैद कर लिया। खजाना, हाथी, और सारा माल-असबाब गनीमों ने लूट लिया। ये सारी बातें आपको मेरे पिछले पत्र से ही ज्ञात हो गई होंगी।

इन्ही सारी घटनाओं के कारण स्वर्गीय राजा छबीले राम के पुत्र कुँवर छबीलेराम और राजा बहादुर के पुत्र विनयराम, मोहनराम और शम्भूराम सभी बहुत ही चिन्तित हो उठे हैं। उन्होने बहुत बड़ी सेना एकत्रित की है। साथ ही चन्देरी के जमींदार राजा दुर्जनसिंह को ५०० घुड़सवार तथा १००० प्यादे और मालवा के दीवान मुहम्मद सैदखाँ को ३०० घुड़सवार तथा ५०० प्यादे दिए हैं। इसी प्रकार दूसरों को भी उन्होंने मदद की है। पुराने सारे नौकरों को उन्होंने पूर्ववत अपनी ही नौकरी में रहने दिया है। वे सब इन कुँवरों की पूरी २ सहायता कर रहे हैं। कई एक नये सैनिक भी भर्ती किए जा रहे हैं।

आज मुझे विशेष रूप से यह प्रार्थना करनी है कि इन सब कुँवरोंके लिए आपके सिवाय दूसरा कोई मददगार और आश्रयदाता नही रह गया है। आपको चाहिए कि आप सम्राट की सेवा में उनकी पूरी पूरी सिफारिश कर अपनी ओर से उनके प्रति सहायता और कृपा का परिचय दें। ये सब लोग बरसों से राजा बहादुर के साथ रहे हैं और यह आवश्यक जान पड़ता है कि अब भी वे सब पहिले के समान साथ ही रहे। इसलिए पूरी आशा है कि आपकी कृपा और अनुरोध से उन (कुंवरों) की नियुक्ति तथा उनके मनसब और पद में वृद्धि के लिए (शाही) हुक्म दिए जावेंगे, जिससे कि उनका सम्मान और उनकी शक्ति पहिले जैसी ही आगे भी बनी रहे। गनीम सब दूर धूम-धाम कर रहे हैं, अतएव यह अत्यावश्यक है कि पहिले का सा सारा सम्मान और पद तथा वही सारी सत्ता इन्हेंभी प्रदान की जावे। उनका यह सारा सम्मान आपका ही सम्मान होगा और इस सहायता का आपसे गहरा सम्बन्ध है।

---

१. संभवतः यह पत्र पिछले पत्र के कुछ ही दिनों बाद लिखा गया था। इस पत्र में मरहठों के उज्जैन के पास पहुँचने का कोई उल्लेख नहीं है, जिससे यह स्पष्ट है कि दिसम्बर १०, १७२८ ई० को मरहठों के उज्जैन का घेरा डालने से पहले ही यह पत्र लिखा गया था।

पत्र स० ४

सवाई जयसिंह के नाम केशोराम की अर्जदाश्त

[लगभग जनवरी ७, १७२९ ई०][1]

साम्राज्य की सेवा करते हुए गिरधर बहादुर के मारे जाने के समाचार ज्ञात होने पर राजा छिमना[2] के नाम भेजे हुए आपके शोक सूचक समवेदना पूर्ण पत्र के साथ ही आपका परवाना भी यहाँ पहुँचा। दरबार-इ-मुअल्ला मे उपस्थित रहने वाले [आपके] वकील द्वारा यह प्रार्थना की गई है कि राजा बहादुर के पुत्रों और भतीजों का पूरा पूरा खयाल रखा जावे, आदि बातें ज्ञात हुई। दिल्ली से प्राप्त होने पत्रों से यह भी ज्ञात हुआ कि उसके (राजा छिमना के) वकील ने सम्राट तथा शाही अमीरों से समुचित ढग से निवेदन किया है और इस बात के लिए पूरा पूरा प्रयत्न किया जा रहा है कि उसकी सारी माँगें पूरी कर दी जावें। इस सब के लिए वह आपकी सेवा म सादर प्रणाम निवेदन करवाता है। राजा बहादुर के प्रति आपने जो विशेष भावना तथा कृपा दिखाई थी वे ही अब उसके पुत्रों और भतीजों के प्रति भी दिखाई जा रही है। आपका समवेदना सूचक-पत्र राजा छिमना को दे दिया गया है। उसका उत्तर वह बाद में भेज देगा। मरहठों ने यहाँ जो धूम-धाम मचा रखी है उसके कारण वह बहुत ही व्यस्त है। यहाँ के समाचार ये हैं कि कोई एक माह से शहर के चारों ओर खाइयों में सुरक्षा के लिए पूरा पूरा समुचित प्रबंध चल रहा है। पहिले के सारे सैनिकों को उसने पूर्ववत अपनी सेवा में रख लिया है। ता० १९ जमादि उल-अव्वल [दिसम्बर १०, १७२८ ई०] से गनीमों की सेना उज्जैन के पास फैली हुई है। दुष्टों ने अनेकों बार खाइयों पर आक्रमण किए और हर दफा तीरों और गोलियों की मार से या तो वे सारे मारे गये या घायल हो गए। लड़ाई लगातार चल रही है। इसी अरसे में ७००० घुड़सवारों और १०००० प्यादों को भरती किया गया, तथा और भी लोगों को भरती किया जा रहा है इस बात की पूरी आशा है कि महाराजधिराज की कृपा तथा शाही मेहरबानियों के फलस्वरूप अत में दुष्टों को नीचा देखना पड़ेगा।

राजा छिमना के नाम एक फरमान जारी किया गया है जिस पर सम्राट के हस्ताक्षर हैं समुचित समवेदना दिखाने के बाद उसे इस सूबे का पूरा अधिकार दे दिया गया है और उसी में गनीमों को दण्ड देने के लिए भी उसे हुक्म मिला। राजा छिमना को आवश्यक सहायता देने के लिए सैयद नजमुद्दीन अलीखाँ को जो हुक्म दिया गया है, उसका तथा उसी प्रकार की

---

1 गिरधर बहादुर की पराजय और मृत्यु के प्रथम समाचार उज्जैन पहुँचने के कोई एक माह बाद यह पत्र लिखा गया होगा। घेरा डाल कर मरहठे इस समय उज्जैन पर पूरे जोर से आक्रमण कर रहे थे।

2 राजा गिरधर बहादुर और राजा आनन्दराम की मृत्यु होने पर मुगल सम्राट ने राजा छबीलेराम के दूसरे पुत्र भवानीराम को राजा छिमना का खिताब दिया था।

अन्य बातों का भी इस फरमान में उल्लेख है। इसी महीने[1] की तीसरी तारीख [दिसम्बर २१, १७२८ ई०] को यह फरमान यहां पहुँच गया था जिससे कि उनको दी गई आज्ञाओं का पालन तत्काल ही किया जावे। किंतु अब तक हमारी मदद के लिए [गिरदो तथा सिरोंजों में नियुक्त अन्य शाही सेना नायकों की] कोई भी सेना यहां नहीं पहुँची है। इतना सब होते हुए भी शहर की सुरक्षा के लिए हर तरह के प्रयत्न किए जा रहे हैं, जिससे कि उसकी नमकहलाली साबित हो जावे। दूसरे लोगों के पत्रों में दिए गए विस्तृत विवरणों से भी यह बात स्पष्ट हो जावेगी कि यहाँ कितनी मिहनत के साथ सारे प्रयत्न किए जा रहे हैं। अपनी ही प्रशंसा में कुछ भी लिखना सर्वथा अनुचित होगा।

यह आशा की जाती है कि महाराजा की समुचित कृपा के फलस्वरूप छबीले राम के पुत्र राजा चिमना तथा राजा गिरधर बहादुर के [तीनों] पुत्र कुँवर [यहाँ नाम के स्थान पर जगह खाली है] कुँवर विजयराम और कुँवर शम्भूराम की आवश्यक देखभाल की जावेगी एवं उनका पूरा पूरा खयाल रखा जावेगा।

पत्र सं० ५

जयपुर के सवाई जयसिंह के नाम राजा चिमना नागर का पत्र—

[लगभग जनवरी १०, १७२९ ई०][2]

आपका कृपापूर्ण पत्र मिला, जिससे मेरे संतप्त हृदय को शान्ति और संतोष का अनुभव हुआ। मेरे बडे-बूढ़ों में से ऐसा कोई भी व्यक्ति अब रह नहीं गया है जो आपके समान मेरे प्रति ऐसी कृपा और मेहरबानी दिखा सके। राजा गिरधर बहादुर के प्रति जो कृपा आप दिखाते थे, उससे भी अधिक अनुग्रह आप मेरे प्रति प्रगट कर रहे हैं। कुछ ही दिनों पहले एक फरमान आया है, जिसमें राजा चिमना के खिताब के साथ ही साथ कई एक अन्यशाही मेहरबानियों

---

१. यहां इसी महीने से 'जमादि-उस-सानी' माह का ही अर्थ समझना चाहिए। उसके बाद का महीना 'रजब' उज्जैन का घेरा उठने के एक सप्ताह बाद जनवरी २०. १७२९ ई० को प्रारम्भ हुआ था। 'मालवा में युगान्तर' में पृष्ठ १८७ के फुट नोट में दिया गया मेरा अनुमान कि भवानीराम की नियुक्ति का समाचार जनवरी, १७२९ ई० के दूसरे सप्ताह में ही मालवा में ज्ञात हुआ होगा, इस पत्र द्वारा गलत प्रमाणित हुआ।

२. जनवरी १२, १७२९ ई० के दिन अपने सैनिकों को लेकर राजा चिमना ने घेरा डालने वाले मरहठे दलों पर सीधा आक्रमण किया था। इसी युद्ध के बाद मरहठों ने उज्जैन का घेरा उठा लिया और पहिले वे कालियादेह गए और बाद में वहीं से वे उत्तर की ओर चल पड़े। घेरे के इस अन्तिम युद्ध से पहिले ही यह पत्र लिखा गया होगा। इस पत्र में जिस युद्ध का उल्लेख है वह यह अन्तिम युद्ध नहीं जान पड़ता है। घेरे के समय यदाकदा हो जाने वाली मुठभेड़ों में से यह एक होगी।

दिखाई गई हैं। इनसे मेरे प्रति आपके उपकार स्पष्ट हो जाते हैं और मेरा विश्वास है कि भविष्य में भी इसी प्रकार मेरे प्रति आपका ऐसा ही अनुग्रह बना रहेगा।

बहुत बड़ी संख्या में गनीम शहर को घेरे हुए हैं, शहर पर वे दांत लगाए बैठे हैं। पिछले पाँच सात दिनों से प्रतिदिन घोर युद्ध हो रहे हैं। मूर्खतावश ये दुष्ट पंक्तियाँ बाँध बाँध कर शहर पर आक्रमण करने के लिए खाइयों की ओर बढ़ते हैं। इधर हमारी ओर शाही सेना के वीर योद्धा साहस और शौर्य के साथ आक्रमणकारियों का सामना कर उन्हें मार भगाने के लिए खाइयों से निकल पड़ते हैं और आक्रमणकारियों में से अनेकों को मार कर तथा बाकी बचे हुओं को अपने पड़ाव की ओर भागने के लिए बाध्य कर वे शीघ्र ही अपनी खाइयों को लौट पड़ते हैं। इस मुठभेड़ में तीन सौ से लेकर कोई पांच सौ शत्रु मारे गए या घायल हुए। इसी प्रकार हमारे पक्ष के भी कुछ सैनिक युद्ध में मरकर शहीद हुए। ईश्वर की कृपा और सम्राट की शुभ दृष्टि से इन दुष्टों को उचित दण्ड मिला और वे अपना मुंह काला कर रहे हैं।

पुराने और नए सभी सिपाही वेतन के लिए चिल्ला रहे हैं। वे सभी शहर की रक्षा में जुटे हुए हैं। सारी बातें विस्तार पूर्वक लिखी नहीं जा सकती हैं। आपकी सहायता के बिना गनीमों के इस दल से किसी भी प्रकार छुटकारा नहीं हो सकता है। हम आपसे हर प्रकार की मदद चाहते हैं और उसी की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

पत्र सं० ९

सवाई जयसिंह के नाम केशोराम की अर्जदाश्त

[लगभग जनवरी ११, १७२९ ई०][1]

उज्जैन के आसपास गनीमों के धूमधाम करने, तीरों और बन्दूकों के साथ हमारी खाइयों पर उनके आक्रमणों तथा उनके साथ निरन्तर युद्ध होने, शहर के चारों ओर की इन खाइयों संबंधी हमारी चिंता, अपने सैनिकों को अपने साथ ही बनाए रखने के लिए हमारे प्रयत्न, तथा स्वर्गीय राजा बहादुर के पुत्रों और भतीजों की सहायता एवं देखभाल सम्बन्धी आपका कृपापूर्ण परवाना प्राप्त हुआ था, जिसका यथा समय उत्तर दे चुका हूं। मेरा वह उत्तर आपके सामने पेश हो ही गया होगा।

निवेदन करने योग्य ताजे समाचार ये हैं कि उज्जैन शहर में आ घुसने के उद्देश्य से बाजीराव के भाई ऊदा और अन्य (मरहठा) सरदारों ने उस (उज्जैन) पर चारों ओर से कई बार आक्रमण किये। लड़ाई जब प्रारम्भ हो गई, तब तीर और गोलियाँ इस तरह चलाई गईं कि सारे के सारे दुष्ट (आक्रमणकारी) या तो मारे गये या घायल हुए। अन्त में उनका सिर नीचा हो गया

---

१ उज्जैन का घेरा ता० १९ जमादि-उल्-अव्वल (दिसम्बर १०, १७२८ ई०) को प्रारम्भ हुआ था। उस दिन से एक महीने बाद ही यह पत्र लिखा गया होगा। जैसा कि पत्र से ही ज्ञात होता है, पत्र के लिखे जाते समय भी उज्जैन का घेरा चल रहा था।

और वे अपने घरों को[२] वापस लौट गए। इन दुष्टों ने (उज्जैन) शहर को पहली बार घेरा था। तब से यों कोई एक माह बीत गया है और अब भी प्रतिदिन लड़ाई हो रही है।

नियमानुसार जितने सैनिक रखे जाने चाहिएँ उससे कहीं अधिक सैनिक आज सेना में भरती हैं। पुनः ऐसे युद्ध के अवसर पर सैनिकों की तनख्वाह में समुचित वृद्धि तथा अन्य युद्ध सम्बन्धी व्यय किए बिना काम नहीं चलता है। ये सारी बातें अन्य पत्रों से आपको ज्ञात हो ही गई होंगी, ऐसी मैं आशा करता हूँ। अपनी नमकहलाली के दावे के अनुरूप तथा मुझे आपने सम्मान प्रदान किए हैं उनका विचार करते हुए मुझे यह निवेदन करने में किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होती है कि आपसे समुचित सहायता पाने की आशा में मैं अपनी जान और सम्पत्ति भी बलिदान करने को पूरी तरह से तैयार हूँ।

माण्डू का फौजदार मुहम्मद उमरखाँ, सैय्यद नजमुद्दीन अलीखाँ, या उन्हीं का सा कोई अन्य शाही सेना नायक भी अब तक इस शहरमें नहीं आ पहुँचा है। महाराजाधिराज (सवाई जयसिंह) की कृपा और शाही सौभाग्य से मै आशा करता हूँ कि यहाँ के मामलों को निपटाने तथा अपना कर्तव्य करने में मैं किसी भी प्रकार विफल नहीं हूँगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आप अवश्य ही सदैव की तरह कृपा बनाए रखेंगे।

राजा आनन्दराम को (मरहठों ने) कैद कर लिया था; वह अपने घावों के कारण वहीं उसी स्थान पर मर गया।[३]. शम्भूराम,[४]. दोलभजी[५]. चौबे कवीन्द्र और अन्य कई अब भी उनके वहाँ कैद हैं; वे दुष्ट (मरहठे) संदेशे भेज रहे हैं कि इन सब (बंदियों) को छुड़ा लें। जब वे सब छूट जावेंगे तब सारे समाचार निवेदन करूंगा।

---

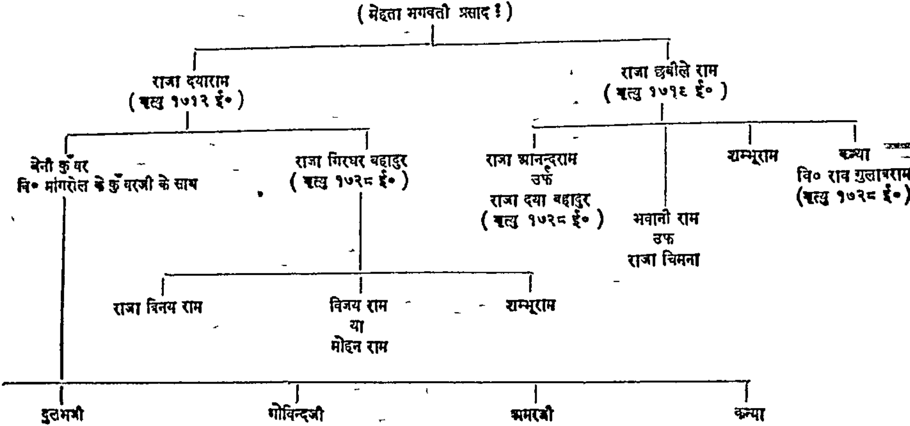
२. यहाँ अपने घरों से केवल उनके पड़ाव का ही मतलब समझना चाहिए। युद्ध आगे भी चलता रहा एवं उनका अपने देश को लौट जाना संभव नहीं जान पड़ता है।

३. 'उसी स्थान' से युद्ध स्थान अमझरा की ही ओर संकेत है जहाँ वह कैद किया गया था। नवम्बर २९, १७२८ ई० के युद्ध के बाद भी अगले तीन दिन तक मरहठे अमझरा में ही पड़ाव डाले रहे।

४. छबीलेराम का छोटा लड़का, जो अमझरा के युद्ध में नवम्बर २९, १७२८ ई० को कैद किया गया था।

५. गिरधर बहादुर की बहन, बेनी कुँवर का लड़का। उसका शुद्ध नाम दुर्लभ था।

नागर घराने का वंश-वृक्ष



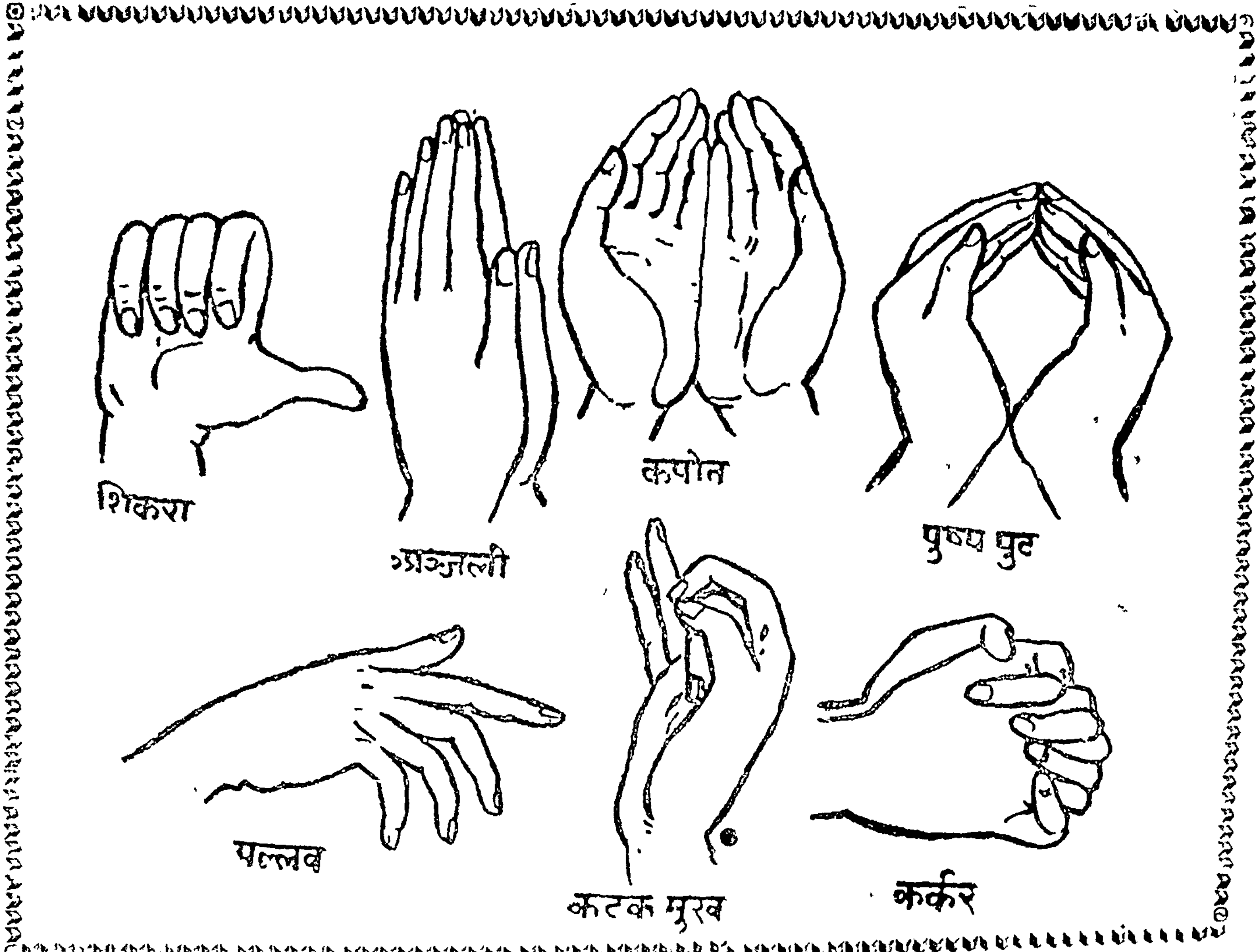
[१६] भारतीय नृत्य की मुद्राएँ

[श्रीयुत देवीलाल सामर एम. ए.]

प्राचीन भारतीय नृत्य की प्रमुख शैलियों में से मालाबार की कथकली, दक्षिण-भारत की भरत नाट्य, उत्तर-भारत की कथक और 'मणिपुर' की मणिपुरी शैलियाँ ही प्रसिद्ध हैं। इनमें से कथकली और भरत नाट्य शैलियाँ ही ऐसी हैं, जिनमें भाव-प्रदर्शन अंगभंगियों और हस्त-मुद्राओं द्वारा नाट्य प्रदर्शन की कला सर्वोपरि है। प्राचीन भरत-नाट्य की परम्पराओं के अनुसार नाट्य के चार अंग माने गये हैं (१) सात्त्विक (२) आंगिक (३) वाचिक (४) आहार्य। सात्त्विक में भाव-प्रदर्शन की, आंगिक में, आंगिक भावभंगियों की, वाचिक में शब्दों द्वारा और नाट्य-प्रदर्शन की और आहार्य में वेशभूषा, अलंकरण शृंगार आदि की कला अंतर्हित है। इन चारों अंगों का सुन्दर और सुव्यवस्थित उपयोग सबसे अधिक कथकली नृत्य में हुआ है। वैसे इनका कुछ २ अंश सभी शैलियों में प्रयुक्त हुआ है परन्तु किसी में एक की अत्यधिक प्रधानता और किसी में उसकी अत्यधिक न्यूनता रहती है। आंगिक के अंतर्गत आँखें, भ्रूभंग, ग्रीवा, भुजाएँ, कटि हस्त आदि का संचालन होता है और इनके द्वारा नृत्यकार अपनी समस्त भावनाओं को व्यक्त करता है। प्राचीन नृत्यकार और शास्त्रकारों ने इन अंगभंगियों का इतना विशद और वैज्ञानिक शास्त्र रचा है कि आज हमें उनकी बुद्धि और कला मर्मज्ञता पर विस्मय होने लगता है। प्रत्येक अंगभंगी में मनुष्य की भावनाओं का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक, चित्रण हुआ है। उसमें किसी भी प्रकार की अव्यवस्था और मन गढ़न्त बात नहीं; प्रत्येक मुद्रा मनोवैज्ञानिक और कलात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण और सही है। आदि मानव ने जब सर्वप्रथम बोलना सीखा होगा, उसके पूर्व उसने निश्चय ही अंग-मुद्राओं की स्वाभाविक और सांकेतिक मूक भाषा का उपयोग किया होगा। उसीके धीरे-धीरे अनुभव और खोज से इन नृत्य-मुद्राओं का विकास हुआ। यही कारण है कि इन मुद्राओं में एक प्रकार की व्यवस्था और सार्थकता के दर्शन होते हैं। परम्पराओ नियमों में ये इस प्रकार बँध गई हैं कि इनमें आज किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। वैसे आजके प्रसिद्ध नृत्यकार उदयशंकर ने प्राचीन नृत्य-शैली की नींव पर अपना आधुनिक और मौलिक नृत्य-शैली का भवन अवश्य बनाया है, परन्तु उनके नृत्य की अधिकांश मुद्राएँ प्राचीन ही हैं और नवीन मुद्राए



भारतीय नृत्य की मुद्राएँ–१



भारतीय नृत्य की मुद्राएँ-२

बनाने में वे काफी सतर्कता का ध्यान रखते हैं। ये नृत्य-मुद्राएँ नृत्यकार की वर्णमाला हैं, जिसका प्रयोग वह अपनी नृत्य-रचनाओं में करके नृत्य की एक व्यवस्थित शब्दावली गढ़ता है और दर्शकों के सम्मुख भावों के सम्मिश्रण से एक सम्पूर्ण कथा नृत्य प्रदर्शित करता है। नृत्य की मुद्राएँ नृत्याभिव्यक्ति का एक अत्यन्त पूर्ण और प्रबल साधन हैं। भारतीय नृत्य-शास्त्रों में इस प्रकार चौंसठ हस्त-मुद्राएँ हैं और उनमें लगभग पाँच सौ शब्द व्यक्त करने की शक्ति है। वैसे हस्त मुद्राओं के अतिरिक्त भी नृत्यकार के पास भावाभिनय के प्रबल साधन उसका मुख और उसकी आँखें हैं, जिनकी क्रियाओं का नृत्य में एक विशद शास्त्र है। वीरता, भय, कंपन, करुणा, कोमलता, रौद्र, प्रेम, घृणा आदि भावों का सुन्दर प्रदर्शन नेत्र और चेहरे की विविध भंगियों द्वारा हो सकता है। किसी प्रसिद्ध नृत्य-शास्त्रकार ने ठीक ही कहा है—"नयनों की ये विचित्र पुतलियाँ अनेक रहस्यों का उद्घाटन करती हैं, काली भृकुटियाँ हृदय की गुप्त भावनिधियों के द्वार खोल देती हैं। आँख की प्रत्येक क्रिया में एक अद्भुत भाषा है और उसमें भी दो विरोधी भावों को एक ही बार व्यक्त करने की अपूर्व शक्ति है। नृत्यकार का मुख दर्शकों के लिए किसी नाटक का एक मूर्त रूप बन जाता है।"

वैसे इस लेख का क्षेत्र केवल नृत्य की मुद्राओं तक ही सीमित है, लेकिन प्रसंगवश यह कह देना आवश्यक है कि नृत्य की हस्त-मुद्राओं को परिपूर्ण और सार्थक करने वाली शरीर की अन्य भंगियाँ भी हैं, जिनका यहाँ उल्लेख मात्र कर देना ही पर्याप्त होगा।

नृत्य करते समय नृत्यकार को अपने विविध अंगों का संचालन करना पड़ता है जिनके प्रकार इस प्रकार हैं,—

(१) मस्तक हिलाने के तेरह प्रकार (२) ३३ प्रकार के कटाक्ष
(३) आठ प्रकार के अवलोकन (४) नेत्र की पुतलियों की क्रिया के नौ प्रकार
(५) भृकुटि क्रिया के सात प्रकार (६) नासिका संचालन के छः प्रकार
(७) कपोल-क्रिया के छः प्रकार (८) चिबुक क्रिया के छः प्रकार
(९) मुख संचालन के छः प्रकार (१०) ग्रीवा संचालन के नौ प्रकार

इस प्रकार शरीर की विविध क्रियाओं और पदों के विविध ताल बद्ध संचालन से एक सम्पूर्ण सार्थक नृत्य की सृष्टि होती है और दर्शकों के सम्मुख एक शक्तिशाली भाषा का प्रभाव उत्पन्न होता है। विविध शारीरिक भंगियों के सम्बन्ध में महाराज शारंगदेव ने अपने प्रसिद्ध शास्त्र "संगीत दर्पण" में कहा है कि शारीरिक संकेत और मुद्राएँ नेत्र भृकुटि और मुख द्वारा अभिव्यक्त भावों की सहायता से एक अपूर्व रसात्मक नृत्य की सृष्टि कर सकती हैं।

नेत्रभ्रू मुखरागद्यैः रूपाङ्गैः रूपं प्रदर्शितं ।
प्रत्यङ्गैश्च कर कार्यं रसभाव प्रदर्शकं ॥

मुद्राएँ हाथों के लाक्षणिक संकेत हैं जिनसे नृत्यकार अन्तरंग भावों का बाह्य प्रदर्शन होता है। उनका प्रादुर्भाव वैदिक ऋचाओं की लाक्षणिक हस्त क्रियाओं से हुआ है। इनका विस्तृत विवेचन है — भरत मुनिप्रणीत "भरत नाट्य शास्त्र" और नन्दिकेश्वर कृत "अभिनय दर्पण" में मिलता है।

मुद्राओं के दो प्रकार हैं (१) असंयुक्त हस्त मुद्राएँ (२) संयुक्त मुद्राएँ। असंयुक्त मुद्राओं में केवल एक ही हाथ का प्रयोग होता है और संयुक्त मुद्राओं में दोनों का। 'भरत नाट्य शास्त्र' में २४ असंयुक्त और १३ संयुक्त मुद्राओं का विवेचन है। अन्य कई ग्रन्थों में कुछ अधिक भी हैं जो कि समय-समय पर बाद के शास्त्रकारों द्वारा जोड़ी गई हैं। कथकली नृत्य-शैली में कुल ६४ मुद्राओं का प्रयोग होता है जबकि नाट्य-शास्त्र के अनुसार कुल ३७ मुद्राएँ ही हैं। कथकली शैली अपेक्षाकृत नवीन शैली होने से उसमें अन्य कई मुद्राएँ भी बादमें जुड़ती चली गईं।

असंयुक्त हस्त-मुद्राएँ इस प्रकार हैं:—

(१) पताका (२) त्रिपताका (३) अर्धपताका (४) कर्तरीमुख (५) मयूर (६) अर्धचन्द्र (७) अराल (८) शुकतुण्ड (९) मुष्टी (१०) शिखरा (११) कपित्थ (१२) कटकमुख (१३) सूचि (१४) चन्द्रकला (१५) पद्मकोश (१६) सर्पशीर्ष (१७) मृगशीर्ष (१८) सिंहमुख (१९) लांगूल (२०) चतुर (२१) भ्रमर (२२) सोलभद्र (२३) संदंश (२४) हंसास्य (२५) हंसपक्ष (२६) मुकुल (२७) ताम्रचूड़ (२८) त्रिशूल (२९) व्याघ्र (३०) अर्धसूचि (३१) कटक (३२) पक्षी (३३) वर्धनम (३४) वन (३५) मुद्रा (३६) पल्लव (३७) मुकुट (३८) वर्धमान।

संयुक्त हस्त मुद्राएँ:—

(१) अंजली (२) कपोत (३) कर्कट (४) स्वातिक (५) दोल (६) पुष्पपुट (७) उत्सव (८) शिवलिङ्ग (९) कटकवर्द्धन (१०) कर्तरी स्वास्तिक (११) शकट (१२) गरुडपक्ष (१३) निशेध (१४) शंख (१५) चक्र (१६) संपुट (१७) पाश (१८) किलका (१९) मत्स्य (२०) कूर्म (२१) वराह (२२) गरुड़ (२३) नागबंध (२४) खटवा (२५) मेरुन्द (२६) मकर (२७) वर्द्धमान (२८) विप्रकर्ण (२९) अरल कटकमुख (३०) शूलस्य (३१) अर्धरेचित (३२) केशबंध (३३) मुष्टिस्वास्तिक (३४) नलिनी-पद्मकोश (३५) ललित।

ये मुद्राएँ व्यक्ति, वस्तु, भाव, विचार, देवता, पशु, पक्षी, पहाड़, नदी, समुद्र, वृक्ष, सूर्य, चन्द्र, पुष्प, बालक, वृद्ध, स्त्री, युवक आदि आदि उनके लिये प्रयुक्त होती हैं। इनका लाक्षणिक प्रयोग, इतना विस्तृत है ताकि भावाभिव्यक्ति में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। इसी प्रकार कुछ मुद्राएँ प्रमुख प्रमुख देवताओं, दसों अवतारों, चारों वर्णों, प्रसिद्ध सम्राटों, सातों समुद्रों, प्रसिद्ध नदियों, वृक्षों, पशु पक्षियों आदि के लिये भी नियत हैं।

उदाहरण के रूप में यहाँ कुछ मुद्राओं की परिभाषाएँ दी जाती हैं:—

असंयुक्त हस्त-मुद्राएँ:—

(१) पताका— इसका प्रयोग निम्नलिखित अर्थों में होता है:— नाट्य का प्रारम्भ, बादल, जंगल, अधिकार, सरिता, घुड़दौड़, वक्षस्थल, लेटना, कृपा, चन्द्रकला, प्रबल प्रतिज्ञा, शान्ति, कवच, आदर्श राजा, सदकर्म, आदि।

(२) अर्धपताका— पल्लव, सरिता तट, छुरी, झंडा, शिखर आदि।

(३) कर्तरीमुख— स्त्री-पुरुष का वियोग, विरोध, चोरी, मृत्यु, निराशा, विद्युत, गिरना, बेल, बैल, हिरण, पर्वतशिखर, हाथी, गाय, कैंची, स्तम्भ आदि ।

(४) मयूर— मयूर की चोंच, वमन, ललाट, अश्रु पात, तर्क आदि ।

(५) अर्धचन्द्र— अष्टमी का चाँद, माला, उदय, कमर, आतुरता, ध्यान, प्रार्थना, प्रणाम, चूड़ी, कलाई, मुकुर, आश्चर्य, प्रयास, धनुष, युवावस्था आदि ।

(६) शुचि— प्रदर्शन, सूर्य, नगर, पत्ता, छाता, शरीर, गोलाकार, सध्या, गर्व, सत्यवक्ता, गोधुली, कमल, कथन, साधु, एकता, ससार, सूर्योदय, श्रवण, स्तुति, नासिका, चोंच, सफेद रग ।

(७) चन्द्रकला— द्वितीया का चन्द्र, मुख, शिव मुकुट, अगूठा, गगा आदि ।

सयुक्त मुद्राएँ .—

(१) अजलि— आज्ञापालन, ध्यान, वर्षा, अग्नि, वमन, प्रकाश, विषाद, सरिता स्नान, रक्तप्रवाह, क्रोध आदि ।

(२) स्वास्तिक— मगर, झगड़ा, प्रशसा आदि ।

(३) दोज— नाट्यारम्भ, मूर्च्छा, प्रेयसी-स्वागत आदि ।

(४) कर्तरी स्वास्तिक— निश्चय, राज्याभिषेक, समारोह, विवाह, आशीर्वाद आदि ।

(५) गरुड़पक्ष— कटि, रस्सी, महानता आदि ।

जैसे पहिले कहा जा चुका है कि मुद्राओं का प्रयोग अधिकतर दक्षिण भारतीय नृत्य-शैलियों में ही हुआ, क्योंकि ये सबसे अधिक प्राचीन हैं और अबतक भी प्राचीन परम्पराओं का इनमें पालन होता है । उत्तर भारतीय नृत्य शैलियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत नवीन हैं और उनका प्रादुर्भाव विदेशियों के प्रभाव से हुआ है, इसलिए प्राचीन शास्त्रोक्त परम्पराओं का उनमें यत्र-तत्र ही पालन हुआ है अधिक नहीं ।

कथक शैली का नाच अवध के नवाबों के समय में प्रचारित हुआ उसमें नृत्य की प्राचीन परम्पराओं पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है । शारीरिक सौन्दर्य तथा भावभगियों से कहीं अधिक पाँव के टुकड़ों को महत्व दिया जाता है और उसमें केवल, शारीरिक श्रम और अद्भुत पद-गति चमत्कार के अधिक कुछ नहीं है । कथक में मुद्राएँ नहीं के बराबर हैं । अधिकांश भावप्रदर्शन भृकुटि, नेत्रों और ग्रीवा द्वारा ही होता है । उगलियों और हाथों की स्थिति बहुधा एक ही प्रकार की रहती है ।

मणिपुरी नृत्य भी अपेक्षाकृत नया ही है और उसमें भी मुद्राएँ नहीं के बराबर हैं इसलिए भावप्रदर्शन की इसमें इतनी विविधता नहीं है । मुखाकृति, नेत्र और शरीर की कोमल सर्पाकार भगियाँ ही इसके सर्वोपरि साधन हैं । उगलियों और हाथों का सचालन लगभग सभी स्थितियों में एक ही सा होता है ।

श्री उदयशंकर की नृत्य-शैली आधुनिक है, परन्तु उसकी आत्मा प्राचीन है। नवीन शैली, नवीन कथानक और नवीन भावों के साथ प्राचीन मुद्राओं का सुन्दर प्रयोग इसमें हुआ है। श्री उदयशंकर ने नवीन मुद्राओं का निर्माण भी किया है जिनका समन्वय भाव, अर्थ और शरीर की अन्य क्रियाओं के साथ सुन्दर ढंग से हुआ है। सभी मुद्राएँ सार्थक और स्वाभाविक हैं। एक मूक व्यक्ति बिना बोले अपने आशय को समझाने के लिए जिन संकेतों का प्रयोग करता है उन्हें लाक्षणिक और कलात्मक बनाकर श्री उदयशंकर ने नृत्य मुद्राओं का रूप दिया है।

आज के अधिकांश नृत्यों में मुद्रा-विज्ञान की अवहेलना हुई है और इस बातका दुःख है कि इस वैज्ञानिक और कलात्मक शैली के प्रति उदासीनता से हमारे नृत्य को भी गहरी क्षति पहुँची है।

सम्पादकीय

१—राजस्थानी इतिहास, कला और साहित्य तथा संयुक्त राजस्थान राज्य

निरन्तर उठने वाली अनेकानेक छोटी-बड़ी बाधाओं के होते हुए भी अन्त में अप्रेल, १८ १९४८ ई० को राजस्थान के पुनः संगठित संयुक्त राज्य का दूसरी बार उद्घाटन हुआ। अपने अनोखे गौरवपूर्ण इतिहास वाले शताब्दियों पुराने मेवाड़ राज्य का अन्त हुआ। राजा महाराजाओं के स्वेच्छा पूर्ण शासन के साथ ही उस दिन हजारों वर्षों से निरन्तर चली आने वाली वंश-परम्परागत शासन प्रणाली भी समाप्त हो गई। स्वाधीन भारत के इस गतिशील नूतन वातावरण में राजस्थान ने हजार वर्ष से भी पुराने अपने अनेकता पूर्ण जातीय जीवन के खेद पूर्ण परिच्छेद को समाप्त कर अपने प्रांतीय इतिहास में एक नया पृष्ठ उलटा। छोटे मोटे अनेकों विभिन्न राज्यों ने अपने सर्वथा स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटा कर एक नूतन संयुक्त राज्य का निर्माण किया उन विभिन्न राज्यों के राजाओं ने सदियों से संचालित तथा अपने राजघरानों में निहित शासन सत्ता को एक बारगी त्याग दिया। सामन्त शाही के आधार पर संगठित विभिन्न राज्य शासनों के स्थान पर अब संयुक्त राज्य का सद्यः संगठित प्रजातन्त्रीय शासन प्रारम्भ हुआ और जनता के माने जाने वाले नेताओं ने इस नवीन शासन का भार अपने कंधों पर ले लिया। यों यह संयुक्त प्रजा तन्त्रीय शासन विगत स्वेच्छा पूर्ण सत्ता तथा विभिन्न सामन्त शाही संगठनों का उत्तराधिकारी बना।

समय के साथ ही शासन-संगठन तथा राज्यादर्शों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। कोई भी प्रदेश तथा समाज अपने भविष्य को उन नवीन आदर्शों के अनुरूप बना सकता है, किन्तु उस नए युग के उन नूतन आदर्शों का उस प्रदेश के भूत कालीन इतिहास या तत्कालीन साहित्य और कला पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। उन गई बीती बातों को तब बदला नहीं जा सकता। उन्हें यों नए आदर्शों के रंग में रंगने का प्रयत्न करना स्वयं को धोखा देना मात्र है। इसके विपरीत ऐसे परिवर्तन-काल में तो यह अत्यावश्यक हो जाता है कि यह प्रदेश और समाज अपने भूतकालीन इतिहास का पूरी पूरी तरह अध्ययन करें और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों तथा उनके सारे प्रभावों को ठीक तरह समझें।

अपने राजनैतिक आदर्शों को बदल करके या अपने शासन-संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन द्वारा ही कोई देश या समाज अपने भूतकाल से एक बारगी नाता नहीं तोड़ सकता है। 'भूतकाल ने ही वर्तमान को जन्म दिया था और वर्तमान के गर्भ में भविष्य धीरे २ पूर्णता को प्राप्त कर रहा है।' सांस्कृतिक या राजनैतिक क्रान्तियां कभी भी जनता में एक बारगी नहीं होती हैं। जनता का दृष्टिकोण तो धीरे-धीरे ही बदलता है। किन्हीं नवीन आदर्शों को अपनाते समय जन समाज सदैव उनमें आवश्यक परिवर्तन कर देता है। यही जनमत प्रजातन्त्रीय शासन का एक मात्र आधार होता है। भूतकाल की गहरी सुदृढ़ नींवों पर यों स्थायी भविष्य का शिलान्यास होता है, और काल तथा आदर्शों के फल स्वरूप उत्पन्न होने वाली उन सारी ऊपरी विभिन्नताओं के रहते हुए तथा ऐसी महत्वपूर्ण क्रान्तियों के बाद भी उस प्रदेश की संस्कृति में आन्तरिक एकता तथा वहाँ के जनसमाज की विचार धारा में क्रमगत सामूहिक विकास की अदृष्ट प्रवृत्ति स्पष्ट रूपेण पाई जाती है। अतएव आदर्शों की इस विभिन्नता के आधार पर या राजनीति-सम्बन्धी विगत ऐतिहासिक विरोधों के कारण ही कोई भी प्रदेश अपने पिछले इतिहास या प्राचीन संस्कृति की उपेक्षा नहीं कर सकता है। ऐसी उपेक्षा करना एक अतीव भयंकर भूल होगी।

पुनः जब कोई राजनैतिक आदर्श या विशिष्ट शासन-प्रणाली, किसी प्रदेश की स्थानीय विचार-धारा की उपज या तद्देशीय राजनैतिक प्रवृत्तियों का विकास न होकर दूसरे प्रदेशों के अनुकरण-मात्र होते हैं या किन्हीं खास कारणों से उस प्रदेश पर अनजाने ही अकस्मात् थोप दिए जाते हैं, तब तो उस प्रदेश के भावी जीवन के विकास का प्रश्न केवल राजनैतिक या विधानात्मक ही नहीं रह कर सांस्कृतिक तथा आदर्शात्मक भी बन जाता है। प्रजा सत्तात्मक शासन भारत के लिए नई बात नहीं है, परन्तु जिस प्रकार का जन-सत्तात्मक विधान आज राजस्थान में स्थापित किया जा रहा है, तदनुसार वहाँ के भावी शासकों का ज्यों चुनाव होगा तथा जिस ढंग या व्यक्तित्व-विहीन शासन (Impersonal rule) राजस्थान में अब प्रचलित होगा, वह राजस्थान के लिए तो सर्वथा अनोखा एवं एक बारगी अज्ञात है। अतएव इस प्रकार की शासन-प्रणाली क्यों कर प्रदेश की जनता के मनोनुकूल बदली जानी चाहिए। तथा किस प्रकार जनता की मनोवृत्ति को कुछ हद तक इस नवीन आदर्श के उपयुक्त बनाया जा सकता है, ये समस्याएं बहुत ही महत्वपूर्ण और साथ ही प्रांत के भावी शासन-संगठन की सफलता के लिए प्राणभूत प्रमाणित होंगी। उन्हें ठीक तरह सुलझाने के लिये इस प्रदेश की जनता की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को भली भाँति समझना और उनके राजनैतिक तथा आर्थिक आदर्शों की भावनाओं को पूरी तरह ध्यान में लाना आवश्यक होगा।

यों संयुक्त राजस्थान के प्रजातन्त्रीय मन्त्रि-मण्डल का यह प्रधान कर्तव्य हो गया है कि राजस्थान की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक धरोहर तथा राजनैतिक बपौती (Heritage) का ठीक ठीक अध्ययन किये जाने का पूरा पूरा प्रबन्ध करें। राजस्थान के पिछले इतिहास की खोज और नए राज्य का प्रान्तीय इतिहास लिखा जाना आज नितान्त अत्यावश्यक हो गया है। राजस्थान के भावी सांस्कृतिक तथा बौद्धिक विकास का मार्ग निश्चित करने के लिए, वहाँ की संस्कृति का ठीक ठीक अध्ययन करना होगा। उच्चकोटि के राजस्थानी कलाकारों को आवश्यक

प्रश्रय देकर बड़ी ही शीघ्रता के साथ विलीन होने वाली राजस्थानी मुकलाओं के भावी उत्थान के लिए प्रयत्न अत्यावश्यक होंगे। इन सारी महत्वपूर्ण बातों पर विचार कर राजस्थानी मन्त्रि-मण्डल के सम्मुख तत्सम्बंधी आवश्यक आयोजन और प्रस्ताव रखने के लिए अधिकारी विद्वानों और सुलझे हुए विचारवान व्यक्तियों की एक कमेटी शीघ्रातिशीघ्र नियुक्त होना चाहिए।

इस कमेटी को नीचे लिखी हुई कुछ बातों पर पूरा विचार कर तत्सम्बन्धी विस्तृत विवरण पूर्ण आयोजन तैयार करना होंगे।

(१) राजस्थान के प्रान्तीय पुरातत्व विभाग की स्थापना—ईसा की १६ वीं शताब्दी के पिछले चालीस वर्षों में भारतीय पुरातत्व सम्बन्धी खोज और अध्ययन करते समय कनिंगहम ने राजस्थान का भी दौरा किया और तब उसने अपनी रिपोर्टों में पुरातत्व की दृष्टि से राजस्थान के महत्वपूर्ण स्थानों का विवरण लिखा था। उसके बाद कई वर्षों तक ओझाजी भी यत्र तत्र खोज करते रहे। ये सब पुरानी बातें हैं, और आज यह आवश्यक हो गया है कि पुरातत्व की दृष्टि से राजस्थान के महत्वपूर्ण स्थानों की पूरी पूरी खोज और प्राचीन युग की उन अमूल्य स्मृतियों की सुरक्षा आदि का समुचित प्रबन्ध शीघ्र ही हो। शताब्दियों की उपेक्षा तथा उनके ठीक ठीक महत्व को न जान सकने के कारण अब तक राजस्थान की इस अप्राप्य निधि की जो हानि हुई है, उसको कभी भी पूरा नहीं किया जा सकेगा। परन्तु निरन्तर बढ़ने वाली इस क्षति को तत्काल ही रोकना नितान्त आवश्यक है।

(२) राजस्थान के प्रान्तीय म्यूजियम की स्थापना—पुरातत्व विभाग की स्थापना के साथ ही ऐसे म्यूजियम की भी स्थापना हो जानी चाहिए। राजस्थान के कुछ राज्यों में एकाध म्यूजियम हैं, परन्तु उन सबके सचालन का एकीकरण करना तथा सारे सयुक्त राज्य की इन भूतकालीन क्रियात्मक प्रवृत्तियों का ठीक तरह से प्रदर्शन करने के हेतु समूचे राजस्थान के लिए एक नए प्रान्तीय म्यूजियम की स्थापना किए बिना काम नहीं चल सकेगा। राजस्थान की संस्कृति में आज एक विचित्र सकट-काल (crisis) समुपस्थित हुआ है। इस प्रदेश की संस्कृति के पुनर्जीवन एवं उसके भावी गौरव पूर्ण विकास में सफलता प्राप्त करने के लिए ऐसे म्यूजियम की स्थापना ही एकमात्र साधन हो सकती है।

(३) राजस्थान के प्रान्तीय मुहाफिजखाने (Archives) की स्थापना—राजस्थान में सम्मिलित होने वाले सारे विभिन्न राज्यों के जो जो कागजात इस सयुक्त राज्य को प्राप्त होंगे, उन्हें एकत्रित कर इस नए प्रान्तीय मुहाफिजखाने का प्रारम्भ किया जा सकता है। पुनः वे सारे राजकीय कागजात जो अभी विभिन्न राजघरानों के ही अधिकार में हैं, और जिनकी प्रमाणित प्रतिलिपियां (Authenticated copies) या माइक्रो-फिल्म द्वारा की गई नकलें मिल सकती हैं, उन्हें भी प्राप्त कर समग्रहीत करना चाहिए। राज्य के पिछले इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली जो भी सामग्री तथा विश्वसनीय कागज पत्र कहीं से मिल सकें, उन्हें प्राप्त कर सग्रह करने का काम इसी मुहाफिजखाने का होगा।

(४) राजस्थान परिषद (Academy) की स्थापना करना—राजस्थान के प्राचीन इतिहास, पुराने साहित्य तथा उसकी सुविख्यात कलाओं के पुनरुद्धार और भावी विकास के लिए ऐसी परिषद् की स्थापना अत्यावश्यक है। राजस्थान का प्रान्तीय इतिहास अभी लिखा जाना है। राजस्थानी इतिहास के कई कालों को लेकर आवश्यक प्रारम्भिक खोज तक अभी नहीं की गई है। सारे राजस्थान में अज्ञात कोनों और अंधकारपूर्ण स्थानों में प्राचीन साहित्य के ग्रन्थ धूल-धूसरित पड़े दीमकों का भोजन वन रहे हैं। उन्हें ढूंढ निकालने तथा उनकी सुरक्षा का काम अभी प्रारम्भ तक नहीं हो पाया है। राजस्थान में नए साहित्य-सृजन का भी प्रश्न शीघ्र ही सामने आवेगा। राजस्थान परिषद् की सी संस्था ही इन सारे मामलों को हाथ में ले सकती है।

आज इस संयुक्त राज्य के भावी संगठन तथा शासन-प्रवन्ध का प्रारम्भ मात्र हुआ है। राजस्थान की जनता इस नए मन्त्रिमण्डल से अनेकों आशाएं लगाए बैठी है। शताब्दियों से राज्य के मार्ग-निर्देश की अभ्यस्त जनता आज भी मन्त्रियों का ही मुंह देख रही है। एवं आज इन मामलों में सारी प्रेरणा नए मंत्रि मंडल के ही हाथ में है। अतएवय दि वे राजस्थानी जनता को उनके राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक उन्नति के पथ पर ले जाकर सफलता पूर्वक उनका मार्गदर्शन कर सके, तो इस प्रदेश एवं यहां की जनता सर्वदा के लिए उनकी अनुगृहीत रहेगी, और भावी राजस्थान के निर्माता वन कर वे अमर यश के अधिकारी बनेंगे। किन्तु यदि इस सुअवसर से शीघ्र ही लाभ नहीं उठाया जावेगा तो मार्ग-निर्देश की यह सारी प्रेरणा उनके हाथों से निकल कर दूसरों के ही पास चली जावेगी।

राजस्थान के अस्पतालों को अधिक सुसज्जित किया जा सकता है। उसके कैदियों के लिए पूरी पूरी सुविधाएं दी जा सकती हैं। राजस्थान में अन्न, कपड़े आदि के वितरण की व्यवस्था सुधारी जा सकती है। राज्य की माली व्यवस्था को नए सिरे से सुसंगठित करना भी कठिन नहीं। समूचे संयुक्त राज्य का शासन-विधान वना कर उसे कुछ काल तक सफलता-पूर्वक चलाते रहना भी किसी प्रकार दुःसाध्य नहीं होगा। परंतु प्रांत के सांस्कृतिक पुनर्जीवन के कार्य के इस महद् भार को उठाना किसी साधारण व्यक्ति के बल वूते की वात न होगी। महाराणा कुम्भा की अगाध विद्वत्ता तथा उसीकी अद्वितीय कला-प्रियता, प्रताप की उत्कट तपस्या और मीरा की एकांत साधना का एकमात्र उत्तराधिकारी वन कर ही कोई व्यक्ति इस महान कार्य को कर सकेगा। एक महान व्यक्ति का उत्तराधिकारी वनना कठिन होता है, तव अनेकों के उत्तराधिकार को एकबारगी संभालना किसी भी प्रकार सरल नहीं होगा। शासन भार तथा राजनैतिक नेतृत्व को एक वारगी त्याग कर राजस्थान के नरेशों ने राजस्थान के माने जाने वाले जन-प्रिय नेताओं को आज इस सांस्कृतिक क्षेत्र में चुनौती दी है। क्या राजस्थान के ये नए राजनैतिक शासक उसे स्वीकार कर उसका सफलतापूर्वक उत्तर दे सकेंगे ?

सीतामऊ]

[रघुवीरसिंह

२. लोक-साहित्य और स्व० रवीन्द्रनाथ

जनपदीय आंदोलन प्रारम्भ होनेसे बहुत पहले स्व० रवीन्द्रनाथ ने 'लोक साहित्य' शीर्षक अपने प्रबन्ध में लिखा था—

"भली भाँति देखने पर ज्ञात होता है कि शिशु जितना प्राचीन और कुछ नहीं। देश, काल, शिक्षा, प्रथा आदि के अनुसार वयस्क मानव में तो न जाने कितने परिवर्तन हुए हैं किन्तु शिशु जैसा शत सहस्र वर्षों पहले था वैसा ही वह आज भी है। शिशु का रूप धारण करके वही अनिर्वचनीय पुरातन मानव के घरमें जन्म ग्रहण करता है, और सबसे पहले दिन शिशु जिस प्रकार नवीन, जिस प्रकार सुकुमार, जिस प्रकार भोला-भाला और जिस प्रकार मधुर था आज भी वह ठीक उसी दशा में है। इस नवीन चिरत्व का कारण यह है कि शिशु प्रकृति की सृष्टि है किन्तु वयस्क मानव बहुतकर अपनी रचना है। इसी प्रकार लोक-साहित्य भी शिशु-साहित्य है, मानव-मन में उसका स्वतः जन्म हुआ है।"

* * * *

"लोक गीतों की तुलना मैं मेघ के साथ करना चाहता हूँ दोनों ही परिवर्तन शील, विविध वर्णों से रंजित और वायु स्रोत से यदृच्छाभासमान। मेघ विज्ञान शास्त्रीय नियमों की पकड़ में भली भाँति नहीं आता, लोक साहित्य भी नियमों के शास्त्रीय बन्धन को स्वीकार नहीं करता। जड़जगत और मानवजगत में ये दोनों उच्छृंखल अद्भुत पदार्थ चिरकाल से एक बड़े भारी उद्देश्य की पूर्ति करते आ रहे हैं। वारिधारा जमीन पर गिरा कर मेघशिशु शस्य को प्राण दान देता है, लोक-साहित्य भी स्नेह विगलित होकर कल्पना वृष्टि द्वारा शिशु हृदय को उर्वर बनाता है। लघुकाय बन्धनहीन मेघ अपने लघुत्व एवं बन्धनहीनता के गुण से ही जगद्व्यापी हित साधन कर स्वभावतः ही उपयोगी हो उठता है, इसी प्रकार लोक गीत भी भारहीनता, अर्थ्य-धन शून्यता एवं वैचित्र्यमयी कल्पना द्वारा शिशु हृदय का मनोरंजन करता है। • 'तरल स्वच्छ सरोवर के ऊपर मेघक्रीडित नभोमण्डल की छाया की तरह लोक-गीत हमारे अन्तराकाश की छाया मात्र हैं।"

रविबाबू के उक्त उद्धरणों के बाद लोक-साहित्य की महत्ता के सम्बन्ध में कुछ कहने को नहीं रह जाता। रवीन्द्र ने स्वयं भी लोक गीतों का संग्रह किया था। लोक-साहित्य तो स्वयं प्रकृति की सृष्टि है, इसलिए उसकी कोई अवहेलना न करे। श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी के विशेष प्रयत्नों से बुन्देलखण्डी साहित्य की अच्छी छान-बीन होने लगी है। हाल ही में श्री शिवसहाय चतुर्वेदी द्वारा प्रस्तुत की हुई 'बुन्देलखण्ड की ग्राम्य कहानियाँ' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसके प्रारम्भ में श्रीकृष्णानन्द गुप्त की विस्तृत भूमिका है। इधर ब्रज-साहित्य मण्डल मथुरा द्वारा भी सत्येन्द्रजी के सम्पादकत्व में 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' प्रकाशित की गई हैं। लोक-साहित्य के इन दोनों शोधकों का हम अभिनन्दन करते हैं। राजस्थान की विशाल लोक परम्पराओं को देखते हुए क्या इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि राजस्थान में कार्य करने वाली साहित्यिक संस्थाएं इस ओर भी विशेष रूप से अग्रसर होंगी?

पिलानी कन्हैयालाल सहल

समीक्षा

१ लोकेशन आव् लंका

लेखक—सरदार एम. वी. किबे

प्रकाशक—मनोहर महादेव केलकर १६६/६५ सदाशिव पेठ, पूना २.

पृष्ठ ६२] प्रथम संस्करण, दिसम्बर १६४७ [मूल्य २ रु.

प्राचीन भारत का इतिहास विद्वानों के लिए एक महत्वपूर्ण समस्या बना हुआ है। हमारे साहित्य में वर्णित विभिन्न प्राचीन नगरों एवं स्थानों की वास्तविक स्थिति कहाँ कहाँ थी, यह भी एक महती समस्या है वाल्मीकीय रामायण में वर्णित किष्किन्धा, पम्पा आदि की वास्तविक स्थिति किस स्थान पर थी एवं इस समय वे स्थान किस नाम से प्रसिद्ध हैं इस विषय पर कई विद्वानों ने प्रकाश डाला है। कुछ विद्वान् लंका की स्थिति वर्तमान लंका द्वीप में ही मानते हैं। अन्य विद्वान इसकी स्थिति जावाद्वीप, मलाया द्वीप आदि स्थानों पर बताते हैं। कुछ पण्डितों ने रामायण का केवल साहित्यिक महत्व ही स्वीकार कर लंका आदि को काल्पनिक रूप देने की चेष्टा की है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लोकेशन आव् लंका' में श्री किबे महोदय ने इस गुत्थी को सुलझाने की चेष्टा की है और वे सम्भवतः इसमें सफल भी हुए हैं। उन्होंने बताया है कि किष्किन्धा की वास्तविक स्थिति मैसूर राज्य के पास न होकर चित्रकूट से दक्षिण में ६४ मील की दूरी पर थी उन्होंने रामायण के किष्किन्धा काण्ड से उद्धृत श्लोकों से यह सिद्ध किया है कि विन्ध्या की उत्तरी तलहटीमें किष्किन्धा स्थिति थी। साथ ही वराहमिहिर एवं मत्स्यपुराणके श्लोकों के उद्धरणों से उन्होंने बताया है कि किष्किन्धा दशार्ण (दाशार्ण) के समीप, भारत में आग्नेय दिशा में स्थित थी। दशार्ण देश आधुनिक भोपाल स्टेट के आसपास था। कवि कालिदास ने भी दशार्ण की स्थिति यही बताई है। इसके अतिरिक्त श्री किबे महोदय ने बताया है कि त्रिपुरी के समीप ही किष्किन्धा थी। त्रिपुरी आजकल की 'तिऊर' है जो जबलपुर के पास है। किष्किन्धा की पहेली सुलझने पर लंका की स्थिति और अधिक स्पष्ट हो जाती है। आपने सिद्ध किया है कि लंका की स्थिति अमरकन्टक के पास थी जो किष्किन्धा के दक्षिण में स्थित है। आपने कहा है कि अमरकण्टक के पास ही एक दलदली मैदान है उसी में लंका स्थित थी। इस मैदान के बीच में एक पर्वत भी है जो सम्भवतः त्रिकूट पर्वत हो जहाँ पर वाल्मीकि ने लंका की स्थिति बताई है सम्भव है इस दलदली मैदान में प्राचीन काल में समुद्र का भाग अथवा झील होगी।

इसके अतिरिक्त श्री किबे महोदय ने यह भी बताया है कि अमरकण्टक के पास ही निवास करने वाली गोंड जाति के रीति-रिवाज, सभ्यता, नामकरण, दन्तकथाएँ आदि से भी यह ज्ञात होता है कि ये रावणवंशीय हैं। कुछ भी हो, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक दृष्टि से श्री किबे की यह खोज एवं मत अत्यधिक महत्वपूर्ण है। श्री किबे ने जिस दुर्ग का उल्लेख किया है, सम्भव है उसकी खोज से इतिहास पर और अधिक प्रकाश पड़े और समुद्र में खोई हुई लंका फिर हस्तगत हो जाय। रीवां राज्य के बान्धवगढ़ नामक तहसील की ओर और विशेषतया उपरिवर्णित दुर्ग की ओर प्रागैतिहासिकों को अपना ध्यान आकृष्ट करना चाहिए।

श्रीभोलाशंकर व्यास
एम. ए. (संस्कृत एवं हिन्दी) एल. एल. बी. साहित्यशास्त्री

२. एन्शियण्ट इन्डियन एज्यूकेशन

लेखक — डा० राधाकुमुद मुकर्जी (एम. ए. पी. एच. डी.)
प्रकाशक — मेकमिलन एण्ड कं. लि., सेण्ट मार्टिन्स स्ट्रीट, लन्दन
प्रथम संस्करण सन् १९४७
आकार $\frac{२०\times२६}{८}$, पृष्ठ ६५५. मूल्य ४२ शि०

भारत मध्ययुग के पूर्व तक शिक्षा क्षेत्र में उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर था। तत्कालीन नालन्दा और विक्रमशिला जैसे विद्यापीठ विदेशी विद्यार्थियों को भी अपनी ओर आकर्षित करते थे। फलतः दूर दूर के विद्यार्थी हजारों की संख्या में यहाँ एकत्रित होकर नाना विषयों की विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करते थे। भारतीय इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत मुकर्जी के सुप्रयत्न से प्राचीन भारतीय शिक्षा का इतिहास प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा स्पष्ट हो गया है और इसके लिए लेखक का जितना आभार स्वीकार किया जाये, कम है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में वैदिक काल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक का शिक्षा इतिहास वर्णित किया गया है। वैदिक शिक्षा, उत्तर वैदिक शिक्षा, पाणिनि और कौटिल्य के समय की शिक्षा आदि ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में वर्णित है तथा बुद्ध काल की शिक्षा दूसरे खण्ड में।

ग्रन्थ में शिक्षा विषयक प्रत्येक सामग्री भली प्रकार बतलाया गया है। शिक्षण विषय, शिक्षण प्रणाली, शिक्षकों की योग्यता और वेतन से लेकर विद्यार्थी के दैनिक अनुष्ठान, दण्डविधान नियम, दैनिक कार्यक्रम तक प्रत्येक बात को बतलाया है।

[illegible] में, बौद्धकालीन काल के विद्यालयों के विषय में विस्तार से लिखा गया है, जिनमें नालन्दा, विक्रमशिला, [illegible], वलभी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ये यह भी बतलाया है, कि [illegible] नालन्दा विद्यालय में [illegible] विद्यार्थियों को [illegible] शिक्षकों द्वारा शिक्षा का

प्रबन्ध था। यहाँ प्रतिदिन विभिन्न श्रेणियों के लिए सौ प्रवचनों की व्यवस्था थी। प्रसिद्ध शिक्षक, शिक्षक श्रेणियाँ, छात्रावास, जनतांत्रिक व्यवस्था, पुस्तकालय आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का किस प्रकार विदेशों में प्रसार हुआ इस ओर भी दृष्टि-पात किया गया है।

प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए तो पुस्तक उपयोगी है ही किन्तु सबसे अधिक लाभ इससे शिक्षा-शास्त्री उठा सकते हैं। हमारे शिक्षा-शास्त्रियों का कर्तव्य है कि वे प्रस्तुत पुस्तक को देखकर आधुनिक भारतीय शिक्षा की उन्नति में यथोचित प्रयत्न करें। भारतवर्ष के लिए पूरी तरह से विदेश का अनुकरण हितकर नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ द्वारा पर्याप्त मार्ग-दर्शन प्राप्त किया जा सकता है।

—श्री पुरुषोत्तम मेनारिया सा. र.

" सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते "

राजस्थान विश्व विद्यापीठ

महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान

उदयपुर का

परिचय और संक्षिप्त कार्य विवरण

वि. सं. २००५

—पुरुषोत्तम मेनारिया

राजस्थान विश्व विद्यापीठ

निवेदन

भारतीय स्वाधीनता के उषःकाल में उदयपुर हिन्दी विद्यापीठ को राजस्थान विश्व विद्यापीठ के रूप में परिवर्तित किया गया है। इसके अनुसार विद्यापीठ की योजना में उचित परिवर्तन किया गया एवं विभिन्न संस्थाओं का सम्पूर्ण कार्य दृढ़ाधारों पर जमाया गया है। श्रीमान् महाराणा भूपालसिंहजी महोदय, राज प्रमुख संयुक्त राजस्थान राज्य के सुयोग्य कुलपतित्व में विश्व विद्यापीठ का विकास भी प्रारम्भ हो गया है।

हम देश के प्रत्येक-धनी मानी, विद्वान, नेता, कलाकार और सामान्य जन से निवेदन करते हैं कि इस मङ्गलकारी विश्व विद्यापीठ के निर्माण में अपना सक्रिय सहयोग दें।

निवेदकः—

जनार्दनराय नागर	भवानीशंकर उपाध्याय	अर्जुनलाल महता
पीठस्थानी (प्रो. वाईस चांसलर)	निर्देशक (शो. सं.)	पीठ मंत्री (रजिस्ट्रार और मुख्य मंत्री)

"सरस्वती देवयन्तो हवन्ते"

राजस्थान विश्व विद्यापीठ

महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध संस्थान

उदयपुर (राजस्थान)

परिचय और संक्षिप्त कार्य-विवरण

-: प्रस्तावना :-

राजस्थान १,३५,०५२ वर्ग मील क्षेत्रफल के साथ भारतवर्ष के महत्वपूर्ण भू भाग में फैला हुआ है। समस्त राजस्थान, मालवा और भील प्रदेश में राजस्थानी भाषा का प्रयोग होता है। भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश तथा काश्मीर के गूजरों, तामील देश के सौराष्ट्रों और समस्त भारतवर्ष में मारवाड़ियों की राजस्थानी मातृभाषा है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग पौने दो करोड़ है। राजस्थानी की मारवाड़ी, मेवाड़ी, बागड़ी, हाड़ोती, मालवी, ढूँढाड़ी आदि बोलियों में बड़ा शक्तिशाली एवं सरस साहित्य वर्तमान है। राजस्थान आज कम से कम सवा करोड़ मानव पुत्रों के साथ महान् भारत देश के भविष्य को उज्वल बनाने में संलग्न है, इस राजस्थान के महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता।

जिस समय राजस्थान ने मध्यकाल में अपनी वीरता, त्याग और बलिदान के कारण इतिहास में अपना महत्वपूर्ण एवं गौरवशाली स्थान पा लिया है, जिसकी कहानियाँ आज न केवल भारतवर्ष में वरन् समस्त संसार में जहाँ तक विद्या का प्रवेश है प्रचलित हैं, जिस राजस्थान के खेत मोती उगलते हैं, जिसकी धरती बहुमूल्य रत्नों और खनिज पदार्थों की खान है, जहाँ निरन्तर बहने वाली नदियाँ और ऊँचाई से निरन्तर गिरते धारे झरने अपनी शक्ति का परिचय दे रहे हैं, जिस धरती माता के पुत्र दूर स्थानों में जा जा कर कुबेर-कोष एकत्रित करते हैं और 'महल बनाने की' पुरानी कहावतों को चरितार्थ करते हैं—उसी महान् राजस्थान की

जनता आज अशिक्षित, नंगी, भूखी और पिछड़ी मनोवृत्ति की बनी हुई है यह अत्यंत दुख की बात है। आज जब भारतीय स्वाधीनता के साथ राजस्थानी जनता ने भी स्वतंत्रता प्राप्त कर सुशासन की स्थापना प्रारम्भ कर दी तो किस प्रकार हम सशक्त होकर भारतीय उन्नति और उत्कर्ष में अपना गौरवपूर्ण योग दें, यह विचारणीय विषय है।

समाज की शक्ति का मूल स्रोत साहित्य और संस्कृति में निहित है। युग-युग से साहित्य और संस्कृति में जो जीवन दायिनी अमृत-धारा प्रवाहित हो रही है उसे परखे और उसके उपयोग किये बिना हम कदापि उन्नति नहीं कर सकते।

विश्व वंद्य महात्मा गाँधी के शब्दों में हमारा भारतवर्ष गाँवों में बसा हुआ है। गाँवों को छोड़ कर शहरों में रहने वाले कुछ लोग देश की उन्नति नहीं कर सकते। आज ग्रामीण साहित्य, कला, लोक व्यवहार आदि की पूरी छान-बीन करने की आवश्यकता है, जिससे भारतवर्ष के नव निर्माण में हम सब सशक्त हो सकें।

अब हमें अपने प्राचीन उत्कृष्ट साहित्य, लोक साहित्य, इतिहास, कला आदि की विधिवत् खोज करनी है। अपने आसपास की वनस्पति, पशु-पक्षियों और हमारे साथी बन-वासियों एवं पिछड़ी जाति के लोगों से सम्पर्क साध कर पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करनी है और संसार के अन्य लोग जो इसे जानने के लिए उत्सुक है, उन्हें देनी है।

संसार के उन्नत कहे जाने वाले राष्ट्रों ने उन्नति के इस नींव के महान् कार्य को बड़े अंश में पूर्ण कर लिया है। हमारे देश में भी कई अन्य प्रान्त आज इस विषय में अग्रसर हो गये हैं। किन्तु राजस्थान अभी इन कार्यों में बहुत पीछे है। आज इस महत्त्वपूर्ण कार्य में संगठित प्रयत्न के साथ कई कार्यकर्त्ताओं और विद्वानों को संलग्न होने की आवश्यकता है।

इसी मंगलमय विचारधारा के साथ राजस्थान विश्व-विद्यापीठ महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध संस्थान निरन्तर अग्रसर हो रहा है।

स्थापनाः—

राजस्थान हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रथमाधिवेशन उदयपुर में स्वीकृत एक प्रस्ताव के अनुसार विद्यापीठ ने शोध कार्य के महत्त्व को स्वीकार कर विक्रम संवत् १९९८ में शोध-संस्थान की स्थापना की।

रूप-रेखाः—

राजस्थान विश्व विद्यापीठ की सर्वोच्च नियमिका महासमिति ने अगस्त सन् १९४८ में शोध-संस्थान की यह रूप रेखा स्वीकृत की—

(१) उद्देश्यः—

राजस्थान विश्व विद्या पीठ के उद्देश्यों के अनुरूप प्राचीन साहित्य शोध संस्थान के निम्नलिखित उद्देश्य होंगे—

(क) प्राचीन साहित्य की खोज, संग्रह, संपादन और प्रकाशन।

(ख) लोक साहित्य का सग्रह, सम्पादन और प्रकाशन।

(ग) इतिहास, सस्कृति और ललित कलाओं के अनुसधान का कार्य करना।

(घ) शोध कार्य के लिए विद्वानों को पुस्तकालय, सग्रहालय, छात्र वृत्ति आदि द्वारा सुविधा देना।

(ङ) साहित्यिक, ऐतिहासिक और कलापूर्ण सामग्री के रक्षण, प्रदर्शन और अध्ययन आदि के लिए एक सग्रहालय का आयोजन करना।

(च) निबंध पाठ, भाषण, प्रकाशन, यात्रा पुरस्कार आदि के द्वारा शोध-कार्य मे गति उत्पन्न करना तथा इस कार्य के लिए वातावरण उत्पन्न करना।

(२) विभाग और उनके कार्य:—

(क) प्राचीन साहित्य विभाग

(अ) राजस्थान में प्राचीन साहित्य और उससे सम्बन्धित सामग्री का सग्रह कर सग्रहालय के लिये प्रस्तुत करना।

(आ) महत्त्वपूर्ण हस्त लिखित ग्रथों की विवरणिया तैयार करना।

(इ) भिन्न-भिन्न ग्रथ-मालाओं का आयोजनकर प्राचीन उत्कृष्ट साहित्य के सम्पादन-प्रकाशन की व्यवस्था करना।

(ख) लोक साहित्य विभाग.—

(अ) राजस्थान से लोक गीत, कहावतें, मुहावरे, लोक-कहानिया, वात-ख्यात, ख्याल, पहेलियाँ, बैठकों के गीत, आदि का वैज्ञानिक रीति से सग्रह करना।

(आ) लोक साहित्य के सपादन, प्रकाशन एव अध्ययन के लिए भिन्न भिन्न ग्रथमालाओं का आयोजन करना।

(इ) लोक साहित्य के प्रति जनता की रुचि बढ़ाने के लिये आवश्यक प्रयत्न करना।

(ग) पुरातत्व विभाग:—

(अ) राजस्थान से ताम्र पत्र, पट्टे, परवाने तथा अन्य ऐतिहासिक महत्व के पत्रों का सग्रह करना, तथा उनके अध्ययन का प्रबध करना।

(आ) राजस्थान में यत्र-तत्र बिखरे हुई, मूर्तियों, सिक्कों, शिलादि लेखों चित्रों तथा अन्य कलाकृतियों का सग्रह करना, उनके विवरण तैयार करना, उनकी रक्षा, प्रदर्शन और अध्ययन का प्रबन्ध करना।

(इ) पुरातत्व इतिहास और कला सम्बन्धी प्रकाशन के लिये विभिन्न ग्रथ-मालाओं का आयोजन करना।

(घ) अध्ययनगृह और संग्रहालय—

(अ) शोध कार्य के लिए एक विशाल ग्रथ भडार का आयोजन कर आवश्यक मुद्रित और हस्तलिखित ग्रथों का सग्रह करना।

(आ) साहित्यिक, सांस्कृति और कला पूर्ण तथा अन्य महत्वपूर्ण कृतियों का संग्रह करना उन की रक्षा, प्रदर्शन और अध्ययन प्रबन्ध करना।

(इ) अध्ययन और अनुसंधान के लिये अध्ययन गृह, प्रयोगशाला आदि की व्यवस्था करना।

(ङ) **सामान्य विभाग**

(अ) विशेष आसन स्थापित कर उनके तत्वावधान में शोधपूर्ण भाषण करवाना तथा उन्हें प्रकाशित करना।

(आ) गवेशणात्मक पत्रिका का प्रकाशित करना।

(इ) निवन्ध-पाठ, व्याख्यानमाला, पुरस्कार, शोध कार्य के लिए दल-यात्रा, शोध-कार्य में सहायक सम्मेलन और प्रदर्शन आदि का आयोजन करना।

(ई) राजस्थानी जन, पशु, पक्षी और वनस्पति आदि का अध्यन प्रस्तुत करना।

(उ) अन्य प्रवृत्तियों और कार्यों का प्रारम्भ और संचालन करना जो शोध संस्थान के उद्देश्य की पूर्ति में साधक बने।

३ प्रबन्धन और सन्चालन—

शोध-संस्थान की सम्पूर्ण व्यवस्था तथा संचालन राजस्थान विश्व-विद्यापीठ प्रबन्ध कारिणी तथा विधान सभा अपने क्षेत्र के अनुकूल करेगी।

शोध-संस्थान का अन्तरंग उत्तरदायित्व मंत्री शोध संस्थान का होगा।

शोध-संस्थान द्वारा सर्व प्रथम राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरणियाँ तैयार करने की कार्य हाथ में लिया गया। इसके उपरान्त चारण-गीत, लोक-गीत, कहावतें, लोक-वार्ताएं, पहेलियां, हस्तलिखित ग्रन्थ, प्राचीन चित्र, सिक्के, ऐतिहासिक पत्र और शिला-लेख आदि का संग्रह तथा सम्पादन, प्रकाशन, ओझा-निवन्ध-संग्रह, महाकवि सूर्यमल आसन, ओझा आसन, श्री भूपाल प्राचीन साहित्य ग्रन्थमाला, त्रैमासिक "शोध पत्रिका" आदि का कार्य प्रारम्भ किया गया। धन और अन्य साधन सुविधाओं की कमी के कारण स्वीकृत रूप रेखा एवं अर्थ योजना के अनुसार कई महत्वपूर्ण कार्य अब तक नहीं प्रारम्भ किये जा सके हैं। विभागीय मुख्य प्रवृतियों का संक्षित कार्य विवरण नीचे दिया जा रहा है।

प्राचीन साहित्य विभाग

१) राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज—

राजस्थान में प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थ बहुत अधिक संख्या में वर्तमान हैं। इनके प्रकाश में आये बिना भारतीय साहित्य का इतिहास परा नहीं किया जा सकता। आज

हमारे देश की यह साहित्य निधि दिनों दिन नष्ट होती जा रही है एवं तत्काल इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। शोध संस्थान ने प्रारम्भ से ही इस प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिया, तथा इस कार्य का सभी ओर से पर्याप्त स्वागत समर्थन किया गया। अब तक इसके छः विवरण ग्रंथ तैयार हो चुके हैं। इनसे कई नवीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थों तथा साहित्यकारों के विषयमें जानकारी मिली है।

भाग १—लेखक श्रीयुत प. मोतीलाल मेनारिया एम ए—इसमें १७५ ग्रंथों के विवरण हैं, जिनसे ४४ नवीन ग्रन्थकारों और उनकी रचनाओं तथा ज्ञात ग्रन्थकारों के २६ नये नये ग्रन्थों के विषय में जानकारी प्राप्त हुई है। इसमें कुछ को छोड़कर सभी ग्रन्थों के विवरण उदयपुर के राजकीय सरस्वती भंडार उदयपुर के महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों के हैं। कर्नल टॉड तथा एक दो अन्य विद्वानों के अतिरिक्त अन्य किसी विद्वान को भली प्रकार से इस पुस्तकालय को देखने और लाभ उठाने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ था और सरकार की विशेष स्वीकृति के उपरान्त ही शोध संस्थान इस कार्य को करवा सका था। (प्रकाशित)

भाग २—लेखक श्रीयुत अगरचन्द नाहटा—इसमें १—लेखक के निजी संग्रह अभय जैन ग्रन्थालय, २—बीकानेर राज्य के अनूप संस्कृत पुस्तकालय, ३—बृहत् ज्ञान भंडार, ४—जिन चरित्र सूरि संग्रह, ५—जयचन्द्रजी ज्ञान भंडार ६—आश्चर्य शाला भण्डार, ७—पतीबाई उपासरा संग्रह, ८—गोविन्द पुस्तकालय, ९—लच्छीराम जाति संग्रह, १०—राव गोपालसिंह वेद का संग्रह ११—कविराज सुखदानजी का संग्रह १२—विनयसागरजी का संग्रह १३—[illegible] की बागीची जो सब बीकानेर नगर में ही है तथा बाहिर के संग्रहालयों में १४—श्री चन्द्रजी गधैया संग्रह, सरदार शहर, १५—श्री सीताराम शर्मा, राजगढ़ १६—यतिवर्य ऋद्धिकरणजी का संग्रह चुरू १७—यति विष्णुदयालजी का संग्रह फतेपुर (जयपुर) १८—जिनभद्रसूरि भण्डार, १९—वृद्धिचन्द्रजी यति संग्रह, २०—[illegible] संग्रह जैसलमेर और २१—हरिसागर सूरि भण्डार, लोहावट (जोधपुर) इन संग्रहालयों की, अज्ञात ग्रन्थों की प्रतियों के विवरण हैं। यह ग्रन्थ बारह विभागों में विभक्त है—जिनके नाम और विवरण दिये ग्रन्थों की संख्या इस प्रकार है—

(१) नाममाला (कोश ग्रन्थ—१०, (२) छन्द ग्रन्थ—८, (३) अलंकार ग्रन्थ—११, (४) वैद्यक ग्रन्थ—२१, (५) रत्न परीक्षा ग्रन्थ—१६, (६) संगीत ग्रन्थ—१२, (७) नाटक ग्रन्थ—३, (८) कथा ग्रन्थ—२३, (९) ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थ—८, (१०) नगर वर्णन ग्रन्थ—१२, (११ शकुन, सामुद्रिक ज्योतिष, स्वरोदय, [illegible], ग्रन्थ—१८ और [illegible], ग्रन्थ—४।

इसमें १०२ ग्रन्थकारों के १३८ अज्ञात ग्रन्थों के विवरण हैं। ८० [illegible] हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए भूतपूर्व [illegible] ने एक हजार रुपया और [illegible] ने एक हजार रुपये, की सहायता प्रदान की है। (प्रकाशित)

भाग ३—[illegible]

उदयपुर के तथा मेवाड़ के एक दो अन्य स्थानों के हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण हैं। शोध-संस्थान के संग्रहालय में सुरक्षित 'अन्ताणी संग्रह' के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों के विवरण भी इस भाग में लिये गये हैं।

भाग ४—लेखक श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा। इसमें भाग दो के साथ उल्लिखित बीकानेर के तथा अन्य संग्रहालयों के निम्न विषयक अज्ञात हस्तलिखित ग्रंथों के विवरण संग्रहित हैं—

१ पुराण-उपनिषद, २ संत साहित्य, ३ कृष्ण काव्य, ४ काव्य, ५. वेदान्त, ६ नीति, ७ जैन साहित्य, ८ शतक साहित्य ६ बावनी साहित्य, १० फुटकर।

भाग ५—लेखक श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा। इसमें भी भाग दो में उल्लिखित बीकानेर के तथा बाहर के संग्रहालयों के विभिन्न विषयक राजस्थानी भाषा के महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण हैं। इसके प्रकाशित होने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि राजस्थानी भाषा के कौन कौन से महत्वपूर्ण ग्रन्थ कहां कहां सुरक्षित हैं।

भाग ६—इसके अन्तर्गत सुप्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ-स्थान नाथद्वारा के हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण प्रकाशित किये जायगे। प्रसन्नता की बात है कि नाथद्वारा के श्रीमान् तिलकायत गोस्वामीजी महाराज ने ठिकाने के निजी पुस्तकालय की महत्वपूर्ण ग्रन्थों के विवरण तैयार करने की स्वीकृति कृपा कर प्रदान कर दी है। शोध संस्थान के कार्यकर्त्ता श्रीयुत पं. नाथूलाल व्यास ने नाथद्वारा में अन्यत्र शोध कार्य प्रारम्भ कर दिया है और ६१ ग्रन्थों के विवरण प्रस्तुत भी कर दिये हैं। इनकी विषय और ग्रन्थ संख्या इस प्रकार है—

पौराणिक और भक्ति विषयक कथाएं ३३, काव्य १८, अलङ्कार १२, कामशास्त्र २, कोष १, छंद २, वैद्यक ६, संगीत २, सामुद्रिक १, विज्ञान १, वेदांत २, वार्ताएं २, वचनिका १, वंशावली ३।

आशा है श्रीमान् गोस्वामीजी महाराज की पुस्तकों के विवरण तैयार करने का काय भी वहाँ सुविधा प्राप्त होते ही प्रारम्भ किया जायेगा।

(२) राजस्थान में संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—

राजस्थानी हिन्दी ग्रन्थों की तरह राजस्थान में संस्कृत ग्रंथों की भी अधिकता है। इनमें से कई प्राचीन शास्त्रों की प्रतिलिपियो के रूप में तथा कई राजस्थान के ही साहित्यकारों और पण्डितों की सुन्दर रचनाओं के रूप में सुरक्षित हैं। शोध संस्थान के विद्वान कार्यकर्त्ता श्रीयुत पं भोलाशंकर व्यास एम. ए. शास्त्री ने शोध संस्थान के संग्रहालय में सुरक्षित ग्रन्थों के विवरण तैयार करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। अब तक १०४ ग्रन्थों का विवरण लिया गया जिसमें विषयानुसार उपनिषद ब्राम्हण १, पुराण १, काव्य ?७, धर्मशास्त्र २, ज्योतिष शास्त्र ५, वद्यक (नर, अश्व और गज) २८, अलङ्कार ३, अश्वविद्या १, वस्तु शास्त्र २,

भक्ति २, तन्त्र १७, राजनीति १, वेदांत ४, व्याकरण ६, जैन दर्शन ७, रत्न परीक्षा १, कथादि महात्म्य ३, पिंगल १४, ग्रन्थ पन्द्रहवीं शती तक के हैं ।

(३) चारण गीतमाला–

प्राचीनकाल में चारण कवियों द्वारा गीत प्रचुर मात्रा में लिखे गये । चारणों के कई घरानों में ऐसे गीतों के संग्रह पाए जाते हैं । साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से इनका बड़ा महत्व है । विद्या विद्यापीठ का शोध-संस्थान श्रीयुत् सावलदान आशिया द्वारा इनका संग्रह करवा रहा है । अब तक सम्पादनार्थ ३२५८ गीत एकत्रित हो चुके हैं । मेवाड़ के कई गांवों में इनकी खोज का कार्य पूरा कर दिया गया है । जोधपुर से श्रीयुत् पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ साहित्याचार्य की कृपा से और अजमेर से श्रीयुत् पं० रामेश्वर गौरीशंकर ओझा की कृपा से कई चारण गीत प्राप्त हुए हैं । अन्य स्थानों से भी चारण गीत प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है । आशा है सम्बन्धित महानुभाव इस विषय में पूरा पूरा सहयोग देंगे ।

भाग १–सम्पादक श्रीयुत् पुरुषोत्तम मेनारिया 'साहित्यरत्न', सहायक सम्पादक श्रीयुत सावलदान आशिया । इस भाग में मेवाड़ के प्रमुख एवं जनता द्वारा सम्मानित इतिहास प्रसिद्ध महाराणाओं के अप्रकाशित गीत सम्पादित किए गए हैं । गीतों के साथ विस्तार से शब्दार्थ तथा भूमिका एवं परिशिष्ट में कई आवश्यक ज्ञातव्य दिये गये हैं ।

पृथ्वीराज रासो कार्यालय श्रीयुत भगवतीलाल भट्ट 'साहित्य रत्न' के संयोजन में अलग संगठित किया गया है और श्रीयुत् कविराव मोहनसिंह के सम्पादकत्व में ५० सर्गों का कार्य समाप्त हो चुका है ।

लोक साहित्य विभाग

१ राजस्थानी कहावतमाला–

कहावतें देश, काल और समाज की वास्तविक स्थिति की परिचायक होती हैं । लोक साहित्य में इनका प्रमुख स्थान है । इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत शब्दार्थ, भावार्थ और आवश्यक टिप्पणियों के साथ कहावतें प्रकाशित करने की योजना है । कहावतें राजस्थान के विभिन्न भागों की और विभिन्न बोलियों की होगी, किन्तु किसी कहावत का पुनर्वार प्रकाशन नहीं होगा । इस प्रकार इस ग्रन्थमाला द्वारा राजस्थानी बोलियों की समग्र कहावतें सम्पादित एवं प्रकाशित कर दी जायगी ।

भाग १, मेवाड़ की कहावतें (प्रथम पुस्तक) सम्पादक श्रीयुत पं० लक्ष्मीलाल जोशी एम. ए., एल-एल. बी. । इसमें मेवाड़ी बोली की चुनी हुई १०२८ कहावतें हिन्दी अर्थ सहित सम्पादित एवं सम्पादित की गई हैं । पुस्तक की भूमिका श्रीयुत डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, नई दिल्ली ने लिखी है । देश के कई विद्वानों, नेताओं और पत्रों ने भी इस पुस्तक की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है (परिशिष्ट) ।

भाग २, मालवी कहावतें । सम्पादक श्रीयुत रत्नलाल मेहता बी. ए., एल एल. बी. ।

इसमें राजस्थान के प्रतापगढ़ क्षेत्र से राजस्थानी भाषा की मारवी बोली की ६३३ कहावतें शब्दार्थ सहित सम्पादित की गई ।

भाग ३, राजस्थानी भीलों की कहावतें (प्रथम पुस्तक) सम्पादक श्रीयुत पुरुषोत्तम मेनारिया 'साहित्य रत्न' । प्रस्तुत पुस्तक में शोध संस्थानक भील साहित्य-संग्राहक श्रीयुत फूलजी मीणा द्वारा संग्रहित ७२१ कहावतों का शब्दार्थ और भावार्थ सहित संपादित किया गया है । साथ ही उपयोगी टिप्पणियां भी जोड़ी गई हैं, तथा भूमिका में भील जाति, भील साहित्य, कहावतों में निहित भील जाति की विचार धारा और भीली भाषा आदि के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी दी गई है । इस पुस्तक को छपवाने का व्यय श्रीमान् रावजी केशरीसिंहजी ठि० बिजोलिया ने कृपा कर प्रदान करना स्वीकृत किया है ।

भाग ४-मेवाड़ की कहावतें (द्वितीय पुस्तक) सम्पादक श्रीयुत् पं० लक्ष्मीलाल जोशी एम. ए., एल-एल. बी. । इस पुस्तक के लिए पर्याप्त कहावतों का संग्रह कर लिया गया है और शीघ्र ही इनका सम्पादन-कार्य पूर्ण हो जावेगा ।

२ राजस्थानी लोक गीतमाला—

लोक गीत जनता के स्वभाविक उद्‌गार हैं और जनता के भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं । इनके रूप में हमारे साहित्य की अमूल्य निधि सुरक्षित है । संसार के सभी सभ्य क्षेत्रों में इनके प्रकाशन को बड़ा महत्व दिया जा रहा है । विश्वविद्यापीठ में शोध-संस्थान की स्थापना से पूर्व ही इस ओर ध्यान दिया गया था और श्रीयुत् पं० जनार्दनराय नागर, एम. ए., साहित्य रत्न ने कई गीतों का संग्रह किया था । उस समय इस कार्यक्रम के लिये एक छोटा आंदोलन प्रारम्भ किया गया था, किन्तु इसमें तब सफलता नहीं मिल सकी । शोध—संस्थान की स्थापना पर श्रीयुत फूलजी मीणां को भील गीत संग्रह के लिए पढ़ा लिखा कर नियुक्त किया गया । इस नवजवान कार्यकर्ता ने कई गीत भील क्षेत्र में घूम-घूम कर एकत्रित किये । श्रीयुत गहरीलाल नन्दसाणा और श्रीयुत पुरुषोत्तम मेनारिया ने भी कई गीत एकत्रित किये । इस समय शोध-संस्थान में गीतों की कुल संख्या ६०० है । श्रीयुत् पं० जनार्दन राय नागर एम. ए., सा. रत्न और श्रीयुत शंभुलाल शर्मा एम. ए. (प्रीवी.) भील गीतों के सम्पादक मनोनीत किए गये हैं और आशा है शीघ्र ही ये गीत सुचारु रूप में सम्पादित होकर प्रकाशित हो जावेंगे । इस वर्ष से विशेष संग्राहकों की नियुक्त कर संग्रह बढ़ाया भी जा रहा है ।

लोक साहित्य-विभाग के अन्तर्गत लोक कहानियों; पहेलियों, लोक कथा-काव्यों आदि का संग्रह कार्य भी प्रारम्भ किया गया है । थोड़ा संग्रह कार्य हुवा भी है । किन्तु कार्यकर्त्ताओं की कमी के कारण इस ओर विशेष प्रगति नहीं की जा सकी है ।

पुरातत्व विभाग

१ डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा निबन्ध संग्रह—

राजस्थान के सुप्रसिद्ध इतिहासकार स्व. डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने समस्त निबन्ध सम्पादन-प्रकाशन के लिए विश्व विद्यापीठ शोध-संस्थान को अर्पित कर दिए थे । साथ ही

इन निबन्धों की बिक्री से होने वाली समस्त आय भी विद्या विद्यापीठ को समर्पित कर दी थी। समस्त निबन्धों की संख्या १०८ है। निबन्धों का काल क्रमानुसार और विषयानुसार वर्गीकरण एवं चार भागों में प्रकाशन होगा। प्रत्येक निबन्ध के साथ नवीन खोज के अनुसार आवश्यक टिप्पणियां भी जोड़ी जावेंगी। प्राचीन काल के निबन्धों का सम्पादन श्रीयुत डॉ रमाशंकर त्रिपाठी एम ए. पी एच डी, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी और मुसल्मानी काल व मरहठा काल के निबन्धों का सम्पादन श्रीयुत महाराज कुमार डॉ रघुबीरसिंह एम ए, डी लिट एल एल बी, सीतामऊ कृपा कर रहे हैं। आशा है प्रथम भाग शीघ्र ही प्रेस में दे दिया जावेगा।

ओझा निबंध संग्रह के प्रकाशन के लिए मेवाड़ सरकार ने ३५००) रु की सहायता प्रदान करने की कृपा की है। साथ ही ३५००) रु बिना ब्याज कर्ज भी देने की स्वीकृति दी है।

पुरातत्व विभाग के अन्तर्गत मेवाड़ के प्राय सभी महत्वपूर्ण शिलालेखों की छापें प्रस्तुत कर दी गई हैं। इनकी संख्या ५६ है। इनका प्रकाशन सुविधानुसार किया जायगा। साथ ही कई ऐतिहासिक महत्व के कागज पत्रों, प्राचीन चित्रों, सिक्कों आदि का भी संग्रह किया गया है। नवीन योजना के अनुसार शीघ्र ही एक संग्रहालय की स्थापना की जायगी और इस संग्रह कार्य को आगे बढ़ाया जायगा।

अध्ययन गृह और संग्रहालय—

इस विभाग के अन्तर्गत कथित साहित्यिक, ऐतिहासिक सामग्री के अतिरिक्त ६५० महत्वपूर्ण हस्त लिखित ग्रन्थ, संग्रहालय के लिए अप्राप्य हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियां और १२०० मुद्रित ग्रन्थ एकत्रित किए गये हैं। कई आवश्यक ग्रन्थ जो पास नहीं है उनकी सूचि बनाई एवं स्वीकृत की जा चुकी है और आशा है ये ग्रन्थ शीघ्र ही प्राप्त हो जायगे। हस्त लिखित ग्रन्थों को व्यवस्थित कर उनकी सूचि तैयार करने का कार्य समाप्त प्राय है।

संग्रहालय के लिए शोध-संस्थान को कई महानुभावों ने सहायता देने की कृपा की है। स्व श्रीयुत प रत्तीलालजी अन्तानी के सुपुत्र श्रीयुत विनोदराय अन्तानी ने अपने पिताजी के हस्त लिखित ग्रन्थों के महत्वपूर्ण संग्रह भी प्रदान किया। श्रीयुत भगवतीलाल भट्ट 'साहित्य रत्न' श्रीयुत भँवरलाल जोशी 'साहित्य रत्न', श्रीयुत भवानीशंकर ज्योतिषि ने भी अपनी हस्त लिखित पुस्तकें शोध-संस्थान को प्रदान की। इनके अतिरिक्त श्रीयुत नाथूलाल व्यास ने स्व संग्रहित मूल्यवान मुद्रित पुस्तकें शोध-संस्थान को भेंट स्वरूप दी। श्रीयुत इन्द्रसिंह महता बार एट-ला ने भी कृपाकर अपने श्री जोधसिंह महता पुस्तकालय को प्रदान किया। उक्त सभी महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं। संग्रहालय में अन्तानी संग्रह भट्ट संग्रह, व्यास संग्रह और जोधसिंह पुस्तकालय व्यवस्थित किये गये हैं।

श्रीमान् महाराणा भूपालसिंहजी महोदय माननीय कुलपति (चान्सलर) ने निजी चम्पाबाग महल को विद्या विद्यापीठ के लिए प्रदान करने का अनुग्रह किया जिसमें अभी शोध-संस्थान का कार्यालय है। आवश्यक सुधार और बढ़ोतरी होने पर विद्वानों को अध्ययन खोज आदि कार्य में विशेष सुविधा मिल सकेगी।

सामान्य विभाग

१ महाकवि सूर्यमल-आसन

राजस्थान के महाकवि सूर्यमल मिश्रण के नाम पर स्थापित इस आसन का उद्देश्य राजस्थानी भाषा और साहित्य तथा इससे सम्बन्धित समस्याओं पर शोधपूर्ण लिखित भाषणों का आयोजन कर उन्हें प्रकाशित करना है। इसके लिये प्रतिवर्ष एक अधिकारी विद्वान द्वारा तीन भाषणों का आयोजन कर उन्हें प्रकाशित किया जाता है। महाकवि सूर्यमल आसन की स्थापना श्रीयुत् आचार्य मुनि जिन विजयजी संचालक भारतीय विद्या भवन बम्बई के द्वारा सन् १९४३ में की गई थी।

इस आसन के प्रथम भाषक राजस्थानी अनन्य प्रेमी श्रीयुत् रामदेवजी चोखानी कलकत्ता के भाषण 'राजस्थानी का महत्व" विषय पर कार्तिक कृष्णा ११, १२ और १३ विक्रमी संवत् २००० में हुए। इसी अवसर पर राजस्थानी भाषा और साहित्य के उद्धार के निमित्त एक योजना बनाई गई और उसके अनुसार कार्य प्रारम्भ किया गया।

द्वितीय सूर्यमल-अभिभाषक श्रीयुत् पं. नरोत्तमदास स्वामी एम. ए. विद्या महोदधि बीकानेर के भाषण श्रावण शुक्ला ११, १२, १३ विक्रमी संवत २००२ में "राजस्थानी भाषा और साहित्य" विषय पर हुए। इसी अवसर पर राजस्थानी के सम्बन्ध में विचार विनिमय के लिये राजस्थानी भाषा-परिषद की आयोजना की गई जिसमें स्थानीय तथा बाहर के पन्द्रह विद्वानों ने भाग लिया।

तृतीय सूर्यमल अभिभाषक भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध भाषा तत्वज्ञ श्रीयुत् डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ए. एम. डी. लिट अध्यापक और अध्यक्ष भाषातत्व विभाग कलकता विश्वविद्यालय मनोनित हुए आप के भाषण "राजस्थानी भाषा" विषय पर माघ शुक्ला ५ (वसंत पंचमी) ६ और ७ विक्रम संवत २००३ में हुए। भाषण आधे से ऊपर छप चुके हैं और शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। इसी अवसर पर राजस्थानी परिषद की दो बैठकें भी हुईं।

चतुर्थ सूर्यमल-अभिभाषक सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्रीयुत् मुनि जिन विजयजी मनोनीत हुए हैं। आपके भाषण शीघ्र ही होंगे।

२ ओझा आसन

राजस्थान के दिवंगत सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा डी. लिट, साहित्य वाचस्पति, महामहोपाध्याय के नाम पर स्थापित इस आसन का उद्देश्य राजस्थानी इतिहास तथा उससे सम्बन्धित समस्याओ पर शोध-पूर्ण भाषणों का आयोजन कर उन्हें प्रकाशित करना है। इसके लिये प्रतिवर्ष एक अधिकारी विद्वान द्वारा तत्सम्बन्धी भाषणों का आयोजन कर उन्हें प्रकाशित करने की योजना है।

ओझा-आसन के प्रथम अभिभाषक श्रीयुत महाराजा कुमार डॉ. रघुवीरसिंह एम. ए. डी. लिट एल. एल. बी. सीतामऊ मनोनित हुए हैं। आपके भाषण "राजस्थान के पूर्व आधुनिक इतिहास की प्रधान प्रवृत्तियाँ" विषय पर होंगे। भाषण लिखे जा रहे हैं एवं शीघ्र ही आयोजित किये जायगे।

३ श्री भूपाल प्राचीन-साहित्य ग्रथ माला

संयुक्त राजस्थान राज्य के राजप्रमुख और राजस्थान विद्या पीठ के माननीय कुलपति (चान्सलर) श्रीमान् महाराणा भूपालसिंहजी महोदय के नाम पर यह ग्रन्थमाला प्रारम्भ की गई है । इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत सभी विषयों के उपयोगी एव महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन प्रारम्भ किया जा रहा है । हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी इसी माला के अन्तर्गत प्रकाशित किये जा रहे हैं । इस ग्रन्थमाला का कार्य प्रारम्भ करने के लिए श्रीमान् महाराणा साहब ने कृपा कर १५०००) रुपयों की सहायता भी प्रदान करने की कृपा की है । ग्रथ माला के संयोजक की भाँति श्रीयुत् भोलाशकर व्यास एम. ए (हि स) शास्त्री की नियुक्ति की गई है और इन्होंने कार्य प्रारम्भ कर दिया है ।

४ शोध पत्रिका

प्राचीन साहित्य, लोक साहित्य, जनकला, इतिहास, पुरातत्व, भाषा शास्त्र विज्ञान आदि विविध विषयों के शोध पूर्ण निबन्ध प्रकाशित करने, नवोदित विद्वानों को शोध कार्य में प्रेरित करने तथा शोध कार्य को प्रगति देने के उद्देश्य से इस त्रिमासिक निबन्ध क्रम का प्रकाशन चैत्र विक्रम सवत् २००४ से प्रारम्भ कर दिया गया है । इसके सम्पादक मण्डल में प श्रीयुत् नरोत्तमदास स्वामी एम ए विद्या महोदधि बीकानेर, श्रीयुत् महाराज कुमार डॉ रघुबीरसिंह एम ए, डि. लिट एल एल बी, सीतामऊ, श्रीयुत् प मोतीलाल मेनारिया एम ए, श्रीयुत् भगवत शरण उपाध्याय एम ए, श्रीयुत् कन्हैयालाल सहल एम ए, श्रीयुत् देवीलाल सामर एम ए और श्रीयुत् पुरुषोत्तम मेनारिया साहित्य रत्न (प्रबन्ध सम्पादक) अपनी सेवाएं कृपाकर दे रहे हैं । अब तक इसके चार अंक प्रकाशित हो सके हैं एवं इस निबधक्रम का प्रथम भाग पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया गया है ।

देश के कई विद्वानों, कलाकारों, पत्र सम्पादकों और नेताओं आदि ने शोध पत्रिका के प्रकाशन को बहुत महत्व दिया है । भारतवर्ष के कई प्रमुख विद्वानों का सक्रिय सहयोग पत्रिका के लिये प्राप्त है, किन्तु दुख है कि प्रथम भाग में अधिक निबन्धों का प्रकाशन नहीं किया जा सका । अब श्रीयुत् सेठ श्री गोपालजी मेहता उप कुलपति राजस्थान विश्व विद्यापीठ द्वारा स्थापित श्री मेहता निधि से ४० रुपया मासिक सहायता पत्रिका के लिये स्वीकृत हुई है । दूसरे भाग से इसका प्रकाशन उन्नत और व्यवस्थित किया जा रहा है जिससे यह अधिकाधिक उपयोगी बन सके । कई प्रमुख पत्र-पत्रिकाएं शोध-पत्रिका के परिवर्तन में वाचनालय के लिये प्राप्त होती हैं जिनके लिये उनके व्यवस्थापक धन्यवाद के पात्र हैं ।

५ मुनि जिन विजय अभिनन्दन ग्रथ

श्रीमान् मुनि जिन विजयजी ने राजस्थान से दूर रहकर भी अपनी मातृ भूमि राजस्थान की बड़ी सेवा की है । विश्व विद्यापीठ में आपके सम्मान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रस्तुत करने का निश्चय किया है । इस ग्रन्थ के द्वारा राजस्थान का सर्वांगिण और प्रामाणिक परिचय उपस्थित किया जायगा । इसमें भूमि, प्राणी, वनस्पति जन जीवन, सस्कृत, इतिहास, पुरातत्व जन-जागृति, भाषा साहित्य, जनकला आदि मुख्य विभाग रहेंगे । आशा है आगामी वर्ष में इसका कार्य पूर्ण हो जावेगा ।

इसी वर्ष से श्रीयुत् भवानीशंकर उपाध्याय एम. ए., 'साहित्य रत्न' की मानद सेवाएँ निर्देशक की भाँति प्राप्त हुई हैं। विश्वास है आपके योग्य निर्देशन में शोध-संस्थान विशेष प्रगति करेगा। निम्न लिखित कार्य भी शोध-संस्थान द्वारा इसी वर्ष किये जाने की योजना की गई हैं।

(१) महाकवि चंद, मीरा, पृथ्वीराज, सूर्यमल आदि की रचनाओं को प्रमाणिक परिचय अर्थ और आलोचना आदि सहित प्रकाशित करने के लिए एक ग्रन्थमाला का प्रारंभ।

(२) राजस्थानी लोक–कहानियां, ख्याल, बैठकों के गीत आदि का संग्रह।

(३) राजस्थानी जन–जीवन के चित्रों का सटिप्पण 'एल बम' प्रकाशित करना।

(४) राजस्थानी भाषा की विविध बोलियों के साहित्य का संग्रह करने और अन्य शोध-कार्य करने के लिये शाखाओं की स्थापना।

(५) साहित्य–संग्राहकों तथा शोध-कर्ताओं के लिये एक शिक्षण-शिविर का आयोजन।

(६) राजस्थान में शोध-कार्य सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने और आवश्यक कार्य करने के लिये राजस्थान शोध-परिषद का आयोजन।

(७) राजस्थान की साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं कलात्मक विविध उपयोगी और राष्ट्रीय महत्व की सामग्री के संग्रह, संरक्षण, प्रदर्शन और अध्ययन के लिये एक विशाल संग्रहालय की स्थापना।

(८) राजस्थान के ग्रामों के सांस्कृतिक परिचय के एकत्रीकरण का कार्य प्रारम्भ करना।

निरीक्षण

स्थानीय जनता, विद्वानों और कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त देश के कई प्रमुख महानुभावों ने शोध-संस्थान के कार्य का निरीक्षण किया है। कुछ नाम इस प्रकार हैं—

श्रीयुत् महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन, श्रीयुत् डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, श्रीयुत् मोहनलाल सक्सेना, श्रीयुत् प्रो. सत्येन्द्र एम. ए., श्रीयुत् आचार्य विनोबा भावे, श्रीयुत् कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, श्रीयुत् आचार्य मुनि जिन विजय, श्रीयुत् सम्पूर्णानन्द, श्रीयुत् बाबू जयप्रकाशनारायण, श्रीयुत् बाल गंगाधर खेर, श्रीयुत् पूर्णचन्द्र जैन, श्रीयुत् सत्यनारायण नाथनी, श्रीयुत् सुगनमल भण्डारी आदि। इनमें से कुछ की सम्मतियां अन्त में दी जा रही हैं।

आभार—

राजस्थान विश्व विद्यापीठ महाराणा भूपाल प्राचीन साहित्य शोध-संस्थान उन सभी महानुभावों का परम आभारी है जिन्होंने समय समय पर शोध-संस्थान के लिये आर्थिक सहायता दी है, जिन्होंने शोध-संस्थान का सम्पादन-लेखन कार्य किया है और अधिकांश में

आज भी कर रहे हैं, जिन्होंने साहित्यिक, ऐतिहासिक एव अन्य महत्वपूर्ण सामग्री को एकत्रित करने में सहयोग दिया है और जिन्होंने अपनी पुस्तकें तथा महत्वपूर्ण वस्तुए शोध सस्थान के लिये प्रदान की हैं तथा जिनका उल्लेख कार्य विवरण मे भी यथास्थान हो चुका है। शोध सस्थान अपने मानद निर्देशक, परामर्शदाताओं, विभिन्न समितियों, उपसमितियों के सदस्यों, साहित्य सग्राहकों तथा कार्यकर्ताओं का भी आभारी है जिनके बल पर शोध सस्थान निरन्तर प्रगति करता जा रहा है।

विशेष—

विद्य विद्यापीठ की प्रबन्ध कारिणी ने प्राचीन साहित्य शोध सस्थान के नाम के पूर्व 'महाराणा भूपाल' जोड़ने का निश्चय किया है एव शोध सस्थान प्रगतिकारी परिवर्तन की ओर अग्रसर हो रहा है। इस अवसर पर गत वर्षों का सक्षिप्त कार्य विवरण प्रकाशित किया जाता है एव विश्वास किया जाता है कि भविष्य में सभी ओर से अधिकाधिक सहयोग शोध सस्थान को प्राप्त होता रहेगा।

कुछ निरीक्षकों के अभिमत

१-श्रीयुत् महापंडित राहुल सांकृत्यायन—

"यह संस्था और इसके कार्यकर्त्ता बड़े लगन के साथ मेवाड़ के साहित्यिक सांस्कृतिक कार्य को कर रहे हैं। जहाँ उच्च साहित्यिक शिक्षा के फैलाने में यह विद्यापीठ प्रयत्नशील है, वहाँ प्राचीन साहित्य के शोध में, जनकलाओं और जन-साहित्य के संरक्षण एवं संवर्द्धन के लिए भी इसका उद्योग सराहनीय है।"

२-श्रीयुत् प्रो. सत्येन्द्र एम. ए.—

"मुझे श्री पुरुषोत्तमजी मेनारिया ने राजस्थान विद्यापीठ का प्राचीन साहित्य शोध—संस्थान दिखलाया। इसे देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। यह शोध-संस्थान राजस्थान में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का संकलन और सम्पादन, लोक-साहित्य के विविध रूपों का संकलन और सम्पादन, ऐतिहासिक तथा अन्य शिला लेखों, ताम्रपत्रों का संकलन और सम्पादन तथा अन्य इस ही प्रकार के साहित्य, इतिहास और लोक-जीवन से सम्बन्धित लिखित तथा मौखिक वस्तुओं का संकलन तथा सम्पादन कर रहा है। इसका यह समस्त कार्य बड़े पैमाने पर पूर्ण दक्षता के साथ वैज्ञानिक ढंग से हो रहा है। राजस्थान में इस प्रकार का महत्वपूर्ण कार्य करने वाली मुझे तो यह अकेली ही संस्था दीखती है। इसका समस्त कार्य श्लाघनीय है। इसके कुशल और लगन के कार्यकर्त्ताओं ने इस संस्थान के कार्य में उच्च कोटि के मनीषियों का सहयोग प्राप्त किया है—भले ही वह कलकत्ता, बीकानेर, बम्बई का क्यों न हो। मैं समझता हूँ यह संस्थान हिन्दी को बहुत अच्छी देन दे रहा है। इसके कार्य का जितना विस्तार होगा उतना ही कल्याण कर होगा।"

३-श्रीयुत् मोहनलाल सक्सेना—

निरीक्षण करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे आशा है कि इसको सरकार तथा जनता की ओर से प्रोत्साहन मिलता रहेगा।

४. श्रीयुत् आचार्य विनोबा भावे—

लोक साहित्य का संशोधन और प्रकाशन एक उपयुक्त कार्य है। अगर उसके परिणाम

स्वरूप राजस्थानी बोलियों का हिन्दी में अर्थ देने वाले कोष बनाये जा सकें तो हिन्दी का शब्द सामर्थ्य और विचार-सामर्थ्य भी बढ़ सकता है। मैं संस्था के कार्य का यश चाहता हूं।

५. श्रीयुत् पूर्णचन्द्र जैनः—

शोध विभाग की ओर से प्राचीन ग्रन्थों के संग्रह, सम्पादन, प्रकाशन, लोक गीत, ताम्रपत्र, प्राचीन चित्र आदि के संग्रह वगैरह का जो कार्य चल रहा है वह सन्तोष जनक है। इस प्रकार के कार्य का महत्त्व स्वतः सिद्ध है और राजस्थान के साहित्य व इसकी संस्कृति की स्मृति को सुरक्षित रखने तथा भावी निर्माण में उसकी साहित्य व संस्कृति सम्बन्धी पुरानी निधि-व सम्पत्ति के उपयोग के लिये इस कार्य के विस्तार की आवश्यकता है। विश्व विद्यापीठ के साधन जैसे व्यापक और विस्तृत होते जायगे उससे यह प्रवृत्ति भी उत्तरोत्तर विकास पायेगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

शोध-पत्रिका

भाग १, वर्ष १. (वि. सं. २००४)

विषय-सूची

निबन्ध—

सम्पादकीय—